ॐ

श्री परमात्मने नमः

आचार्यश्री रत्ननन्दि / रत्नकीर्तिजी विरचित—

श्री भद्रबाहुचरित्र

—: अनुवादकर्ता :—

पण्डित उदयलाल कासलीवाल जैन

बड़नगर

—: सम्पादन :—

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, भीलवाड़ा (राज०)

—: आद्य-प्रकाशक :—

शैलेश डाह्याभाई कापड़िया,

दिगम्बर जैन पुस्तकालय

गांधीचौक, सूरत-३

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2080	2551	2024

—: प्रकाशन :—

वर्तमान शासननायक भगवान श्री महावीरस्वामी के निर्वाण कल्याणक महोत्सव,

दिनांक 01 नवम्बर 2024 के पावन प्रसंग पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर,** अलीगढ़।

विषय सूची

1. भद्रबाहुचरित्र - सभाषानुवाद 1
2. ग्रन्थारम्भ - प्रथम परिच्छेद - श्री भद्रबाहुस्वामी की दीक्षा पर वर्णन करनेवाला प्रथम परिच्छेद 2
3. दूसरा परिच्छेद - सोलह स्वप्नों का फल तथा भद्रबाहुस्वामी के विहार का वर्णन 18
4. तृतीय परिच्छेद - द्वादश वर्ष पर्यन्त दुष्काल तथा विशाखाचार्य का दक्षिण देश में भ्रमण 29
5. चतुर्थ परिच्छेद - श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति तथा खापली संघ की उत्पत्ति का वर्णन 40
6. अनुवादक का परिचय 60
7. परिशिष्ट - प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना 61

प्रकाशकीय

आचार्यश्री रत्ननन्दी अपरनाम रत्नकीर्ति द्वारा रचित, अन्तिम श्रुतकेवली **भद्रबाहुस्वामी** का प्रेरणादायक चरित्र पाठकवर्ग के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

आचार्य भद्रबाहु, भगवान महावीरस्वामी की शासन परम्परा में हुए अन्तिम श्रुतकेवली हैं। जिनके काल में बारह वर्ष के दुष्काल जन्य विषम परिस्थिति में गुरु आज्ञा से विमुख और श्रावकों के वाग्जाल में फँसकर उत्तरदेश में रहे हुए मुनियों द्वारा शिथिलाचार की जिस विकृत परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, वह निश्चित ही चिन्तनयोग्य है। इससे यह सीख भी अवश्य ग्रहण करनेयोग्य है कि वीतरागी मुनि भगवन्तों को श्रावकों के व्यामोह से अत्यन्त अप्रभावित रहनेयोग्य है। इस चरित्र में वीतराग जिनशासन की पावन परम्परा में एक छोटे से वस्त्र ग्रहण से प्रारम्भ हुआ शिथिलाचार और स्वेच्छाचार का ताण्डव कहाँ तक पहुँच गया, यह गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 177 मूल संस्कृत श्लोक हैं। जिनका हिन्दी अनुवाद स्वर्गीय पण्डित उदयलाल कासलीवाल जैन द्वारा किया गया था। जिसका प्रकाशन मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत द्वारा किया गया था। एक बहुत प्राचीन प्रति इन्हीं अनुवादक द्वारा अनुवादित श्री बद्रीप्रसाद जैन, बनारस सिटी द्वारा भी प्रकाशित उपलब्ध हुई है। प्रस्तुत प्रकाशन में दोनों प्रतियों का उपयोग किया गया है। विस्तारभय से संस्कृत छन्द नहीं लिये गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समागत प्राचीन हिन्दी के शब्दों का यथासम्भव प्रचलित हिन्दी में रूपान्तरण पाठकों की सुविधा हेतु किया गया है। सभी पाठकगण इस चरित्रग्रन्थ को पढ़कर निज आत्महित साधें- इसी भावना के साथ....

ट्रस्टीगण,

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विले पार्ला, मुम्बई

श्री भद्रबाहु चरित्र व उसके कर्ता के विषय में—

ऐतिहासिक विवेचन

श्री भट्टारक रत्ननन्दि अथवा रत्नकीर्ति आचार्य का रचा हुआ 'भद्रबाहु चरित्र' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ पुराण कोटि में आता है और पुराण ग्रन्थ भारतीय इतिहास की परम्परा को जानने के लिये उपयुक्त साधनों में एक मूल्यमयी साधन है। कदाचित् पुराणगत वार्ता अन्य श्रोत से अबाधित हो, प्रत्युत दूसरे प्रकार से उसका समर्थन शिलालेखादि से होता हो तो वह प्रमाण मानी जाती है—ठोस इतिहास बनता है उससे। अतः भद्रबाहु चरित्र में वर्णित तथ्यों पर इस दृष्टि से विचार करना अभीष्ट है।

कहा जाता है कि भद्रबाहु चरित्र के रचयिता श्री रत्ननन्दि अथवा रत्नकीर्तिजी कोई प्राचीन आचार्य नहीं हैं। वह भद्रबाहुस्वामी से सैकड़ों वर्षों बाद हुए—उनकी बात कैसे प्रमाणभूत हो? शंका निरर्थक नहीं है—ठीक है; परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात को ध्यान रखना उचित है और वह यह है कि प्राचीन भारत में ज्ञान की परम्परा गुरु-शिष्यों की शृंखला से जुड़ती चली आयी है। रत्ननन्दी ने जो लिखा, वह पूर्व परम्परा से जो उनको मिला, उसी को अपने शब्दों में लिख दिया—इसे इन्होंने अपने ग्रन्थ की आदि में ही इस प्रकार व्यक्त कर दिया है :—

शक्त्या हीनोऽपि वक्ष्येऽहं, गुरुभक्त्या प्रणोदितः।
श्रीभद्रबाहुचरितं, यथा ज्ञातं गुरुक्तितः ॥७॥

इस प्रकार भद्रबाहुचरितम् में जो वार्तायें लिखी गई, वे उस समय गुरुपरम्परा से चली आयी, प्राचीन अनुश्रुतियाँ थीं। अतः उन्हें 'अर्वाचीन' कहकर अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसंग में श्री रत्ननन्दिजी के सम्बन्ध में कुछ जान लेना

आवश्यक है। परन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने अपने विषय में कुछ अधिक लिखा नहीं है। पट्टावलियों में इस नाम के दो आचार्यों का उल्लेख हुआ है। पहले रत्ननन्दि का समय विक्रम सं. ५६१ है और वह वीरनन्दि के पश्चात् पट्टाधिकारी हुए थे।

दूसरे रत्ननन्दि अथवा रत्नकीर्ति का समय वि. सं. १२९६ दिया हुआ है और वह भ. धर्मचन्द्र के पश्चात् पट्ट पर आरूढ़ हुए थे। उस समय पट्ट स्थान अजमेर में था। 'भद्रबाहु चरित्र' के आन्तरिक दिग्दर्शन से यह दूसरे रत्ननन्दिजी ही उसके रचयिता भासते हैं। उन्होंने शिक्षा गुरु श्री ललितकीर्ति बताये हैं। पट्टावली में दूसरे रत्ननन्दी से पहले एक ललितकीर्तिजी का उल्लेख मिलता है जो वि.सं. १२५७ में पट्टाभिषिक्त हुए थे। हमारे विचार से यही ललितकीर्तिजी भ. रत्ननन्दि के शिक्षा गुरु थे।

इस प्रकार 'भद्रबाहु चरित्र' के रचयिता विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के विद्वान् ठरहते हैं, परन्तु उन्होंने जो लिखा वह पुराना या गुरु परम्परा से उनको मिला था। इसमें एक आपत्ति यह है कि भद्रबाहु चरित्र में ढूंढया मत की उत्पत्ति का भी जिक्र है।

हो सकता है कि यह श्लोक प्रक्षिप्त हों! अथवा ग्रन्थकार का समय सोलहवीं शताब्दी हो। इस ओर विशेष खोज की आवश्यकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में रचयिता ने निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला है—

(१) भद्रबाहु नामक श्रुतकेवली हुए थे, जिनके उपदेश से मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त दिगम्बर जैन मुनि हो गये थे।

(२) उनके समय में द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण निर्ग्रन्थ संघ दक्षिण भारत की ओर चला गया था।

(३) जो निर्ग्रन्थ श्रमण दुर्भिक्ष के विषय में उज्जैन के आसपास उत्तर भारत में रह गये थे, वे उसकी कठिनाईयों को झेल न सके और

श्रावकों के अनुरोध से उन्होंने खण्ड वस्त्र कलाई पर लटकाना प्रारम्भ कर दिया एवं जिनकल्प और स्थविरकल्प की सृष्टि कर ली, कालान्तर में पूर्व का 'अर्द्धकाल' सम्प्रदाय बिल्कुल स्पष्ट होकर श्वेत वस्त्र धारण करने लगा और श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध हो गया।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के गुरु-शिष्यत्व और द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की वार्ता एक निर्णीत इतिहास मानी गई है, जो प्राचीनतम साहित्य (जैसे तिलोयपण्णति) एवं शिलालेखीय साक्षी से प्रमाणभूत सिद्ध है। अतः उसके विषय में ऊहापोह करना आवश्यक नहीं रह जाता है, तीसरी बात कि क्या पहले अर्द्धफालक सम्प्रदाय हुआ और वही श्वेताम्बर सम्प्रदाय में परिवर्तित हो गया? रत्ननन्दिजी का यह लिखना कहाँ तक ठीक है, यह विचारणीय है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि विचार करे तो भी यह भासता है कि प्राचीन प्रथा का मूलोच्छेदन और परिवर्तन एकदम नहीं हो जाता, वह धीरे-धीरे ही बदलती और स्पष्ट होती है। पहले उसके विद्रोह में बीज बोया जाता है। वह छोटे रूप में अंकुरित होता है और फिर पनप कर बड़ा हो जाता है—उसका अपना अस्तित्व बन जाता है। श्वेताम्बरों के सम्बन्ध में भी ऐसा हुआ हो तो आश्चर्य नहीं, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या रत्ननन्दिजी से पहले भी किसी आचार्य ने 'अर्द्धफालक' सम्प्रदाय का उल्लेख किया है? हाँ, श्री हरिषेणजी ने अपने 'कथाकोष में उसका उललेख किया है, जिसे उन्होंने वि.सं. ९८९ में रचा था। इसके अतिरिक्त मथुरा से उपलब्ध कुशनकालीन पुरातत्व से 'अर्द्धफालक' सम्प्रदाय की सिद्धि होती है।

मथुरा के 'कंकाली टीला' से कुछ ऐसे प्राचीन आयागगट्ट मिले हैं, जिनमें जेन साधु यद्यपि नग्न बताये गये हैं, परन्तु वे अपनी नग्नता को एक कपड़े के टुकड़े से छिपाते हुए अंकित किये गये हैं। हरिषेणजी भी

यही लिखते हैं कि कपड़े के टुकड़े से वह साधु नग्न को बाँये हाथ से छुपाते थे और दक्षिण (दायें) हाथ से कमण्डलु अथवा भिक्षापात्र लेते थे।

यावन्न शोभनः कालो, जायते साधवः स्फुटम्।
तावच्च वामहस्तेन, पुरः कृत्वाऽर्धफालकम्॥५८॥
भिक्षापात्रं समादाय, दक्षिणेन करेण च।
सहीत्वा नक्तमाहारं, कुरुध्व भोजनं दिने॥५९॥

कथा नं. १३३

मथुरा के पुरातत्व में बौद्धस्तूपवाले शिलापट्ट में जो दिगम्बर साधु अंकित हैं, उनकी कलाई पर एक कपड़े का टुकड़ा पड़ा हुआ है। (देखो चित्र नं.१)

डॉ. बुल्हर का हवाला देते हुए श्री चीमनलाल शाह ने यह स्पष्टरूप से स्वीकार किया है :—

"The Vodva Stupa..... the male figure on the right of Dharmchakra is considered by Dr. Buhler to be that of a naked ascetic, Who, as usual has a piece of cloth hanging over his right arm."

- Jainism in North India, p. 257.

इसी प्रकार प्लेट नं. २२ में कण्हश्रमण को अंकित करके उनको कलाई पर भी खंडवस्त्र लटकता उकेरा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में कण्डश्रमण प्रमुख स्थान रखते हैं। कण्डश्रमण का दूसरा हाथ आयागपट्ट में पिच्छी लिये हुए उनके कन्धे पर है। वह किसी राजमहिषी को उपदेश दे रहे हैं, व एक नागकन्या उनके पीछे खड़ी हुई है। (देखो चित्र नं. २)

श्री रत्ननन्दिजी ने भी 'भद्रबाहु चरित्र' में स्पष्ट लिखा है कि जब एक सेठानी निर्ग्रन्थ श्रमणों के नंगे रूप से डरी तो सेठानी की प्रार्थना पर उन साधुओं ने एक 'आधा वस्त्र' स्वीकार कर लिया, जिससे वह अपनी नग्नता छिपाने लगे। (घृत्वा सुरल्लकं शीर्षे परिधायार्द्धफालकम्)

इसी प्रकार नैगमेश—पट्ट में भी जो मथुरा के कंकाली टीला से

मिला था, एक साधु का चित्रण अर्द्धफालक वेष में किया गया है। (देखो, चित्र नं. ३) डॉ. बुल्हर ने उसके विषय में यही लिखा है।

"At his (Nemesa), left knee stands a small naked male, characterised by the cloth in his left hand, as an ascetic with uplifted right hand." - Dr. Bulher, (Ep. India, 11, 316)

पुरातत्व की इस प्राचीन साक्षी से स्पष्ट है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भिक एवं उसके कुछ समय पहले से निर्ग्रन्थ साधु यद्यपि रहते नग्न थे परन्तु अपनी नग्नता छिपाने के लिए कपड़े का टुकड़ा काम में लाते थे। इस प्रकार के साधुओं के संघ को 'अर्द्धफालक' सम्प्रदाय कहा गया है। यही सम्प्रदाय आगे चलकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के नाम से वि. सं. १३६ में स्पष्ट हो गया। प्रारम्भ में उसका उल्लेख 'निर्ग्रन्थ श्वेतपट् महाश्रमण संघ' नाम से होता था, उपरान्त वह श्वेताम्बर कहलाया। *दिगम्बर सम्प्रदाय पहले निर्ग्रन्थ श्रमण संघ के नाम से प्रसिद्ध रहा—उपरान्त वह 'दिग्वास' और फिर दिगम्बर नाम से प्रचलित हो गया।

इस प्रकार यह 'भद्रबाहु चरित्र' में बताई गई मुख्य बातें ऐतिहासिक तथ्य को लिये हुए प्रमाणित होती हैं। उनका समर्थन पुरातत्व की स्वतन्त्र साक्षी से होता है।

अलीगंज, एटा — विनीत —
ता. ७-७-१९५३ — **कामताप्रसाद जैन**

---

* कदम्बवंशीय राजा श्री विजयशिवमृगेश वर्मा के देवगिरिवाले दानपत्र में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों को साथ-साथ दान देने का उल्लेख इन शब्दों में हैं —

''द्वितीयोंर्हत्प्रोक्तसर्द्धस्सकरणपरस्य। श्वेतपटमहाश्रमण संघोपभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघोपभोगाये हि।''

मथुरा के कुछ लेखों में भी दिगम्बरों का उल्लेख निर्ग्रन्थ नाम से हुआ है। इसके लिए हमारा अंग्रेजी लेख देखना चाहिए जो कि जनल ऑव दी यू.पी. हिस्टोरीकल सोसायटी में छपा था।

ॐ

॥ नमः श्री भद्रबाहुमुनये ॥

श्री भद्रबाहु-चरित्र

(सभाषानुवाद)

श्री शशिविशद जिनेशपद, कुगति भ्रमण दुःख ताप।
हरकर निजचैतन्यगुण, करहु दान गतपाप! ॥१॥
त्रिभुवन जन तुव भक्ति वश त्रिभुवन के अवतंस।
हुये प्रभो! अब क्यों न मुझ-पर करुणा हैं अंश? ॥२॥
दिनमणि भी तुव कान्ति से, निर्बल कान्ति ह्वै नाथ!।
चूरहिं जगतम तो न क्यों, हरहु हृदय तम? नाथ! ॥३॥
जनश्रुति शशि शीतल कहै, मुझे न यह स्वीकार।
जनन-ताप मिटता नहीं, फिर यह क्यों, निरधार? ॥४॥
इस अपार सन्ताप के, हुये विनाशक आप।
तिहिं मृगाङ्क शीतल प्रभा! कहलाये जग आप ॥५॥
गुण मुक्तामणि रत्न के, पारावार अपार।
गुण मुक्तामणि दान कर, नाथ! करहु भवपार ॥६॥
इह विध मङ्गल-प्रभव शुभ, विविध प्रभाव वश विघ्न।
ह्वै निरास इह ग्रंथ शुभ, हो पूरण निर्विघ्न! ॥७॥
नाथ! सुविनय अनाथ का, सुनकर करूणा पूर!।
अवलम्बन कर कमल का, देकर कलित बिचूर ॥८॥
रत्नकीर्ति मुनिराज ने, रचौ सुजन हित हेतु।
भद्रबाहु मुनि तिलक वृत, सो भव नीरवि सेतु ॥९॥
तिहिं भाषा मैं मन्द-घी, मूल ग्रन्थ अनुसार।
लिखहुं कहीं यदि भूल हो, शोधहु सुजन विचार ॥१०॥

ग्रन्थारम्भ

जो अपने केवलज्ञानरूप सूर्य के द्वारा हृदयस्थित अन्धकार का भेदन करके महावीर (अनुपम सुभट) पने को प्राप्त हुए हैं, वे सन्मति (महावीर) जिनेन्द्र हम लोगों के लिये समीचीन, बुद्धि प्रदान करें।

धर्म से शोभायमान, वृषभ के चिह्न से चिह्नित, इन्द्र से अर्चनीय, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तथा शत्रुओं के भेदनेवाले ऐसे श्री वृषभनाथ भगवान के लिये मैं नमस्कार करता हूँ।

मनोभिलषित उत्कृष्ट पद की प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट पद को प्राप्त हुए पंच परमेष्ठी के उत्कृष्ट-लक्ष्मी-विराजित चरणों को मैं नमस्कार करता हूँ।

लोक तथा अलोक के अवलोकन के लिये प्रदीप के समान जिनवाणी (सरस्वती) हमारे पापरूप रज का नाश कर निरन्तर निर्मल बुद्धि प्रदान करैं।

संसार-समुद्र में पवित्र आचारणरूप यानपात्र के द्वारा गौरव को प्राप्त हुए साधुओं के पदपंकज मेरे मनोभिलषित अर्थ की सम्प्राप्ति के करनेवाले होवें।

ग्रन्थकार साधुराज रत्नकीर्ति महाराज अपनी लघुता बताते हुए कहते हैं कि—यद्यपि मैं ग्रन्थ निर्माण करने की शक्ति से रहित हूँ तथापि गुरुवर्य की उत्तेजना से जैसा उनके द्वारा भद्रबाहु मुनिराज का चरित्र सुना है, उसे उसी प्रकार कहूँगा।

जिसके श्रवण से—मूर्ख बुद्धियों के मिथ्या-मोहरूप

गाढान्धकार का नाश होकर पवित्र जैनधर्म में निर्मल बुद्धि होगी।

★ ★ ★

इस भरतक्षेत्र सम्बन्धी मगधदेश में अलकापुरी के समान राजगृह नगर हैं।

उसके पालन करनेवाले—जिन्हें समस्त राज्यमण्डल नमस्कार करते हैं तथा कल्याण के निलय भव्यात्मा का नाम महाराज श्रेणिक हैं और उनकी कान्ता का नाम चेलनी है।

एक समय महाराज श्रेणिक-वनपाल के मुख से विपुलाचल पर्वत पर श्री महावीर जिनेन्द्र का समवसरण आया सुनकर उनके अभिवन्दन की अभिलाषा से गीत नृत्य वादिंत्रादि प्रचुर महोत्सव पूर्वक (जिनके द्वारा समस्त दिशायें शब्दमय होती थी) चले।

और देवता लोगों से वन्दनीय तथा केवलज्ञानरूप उज्ज्वल कान्ति के धारक श्री वीरजिनेन्द्र का समवलोकन कर तथा स्तुति नमस्कार पूजन कर मनुष्यों की सभा में बैठें।

वहाँ जिन भगवान के द्वारा कहे हुए यति और श्रावक का स्वरूप विनयपूर्वक सुना, तथा करकमल-मुकुलित कर नमस्कार पूर्वक पूछा—देव! इस भारतवर्ष में दुषम पंचम काल में आगे कितने केवलज्ञानी तथा कितने श्रुतकेवली होंगे और आगे क्या होगा?

श्रेणिक महाराज के प्रश्न के उत्तर में भगवान वीर जिनेन्द्र गम्भीर मेघ समान दिव्यध्वनि के निनाद से भव्यरूप मयूरों को आनन्दित करते हुए बोले, नराधिनाथ! मेरे मुक्ति जाने के बाद-गौतम, सुधर्म, जम्बू—ये तीन केवलज्ञानी होंगे और समस्त शास्त्र

के जाननेवाले श्रुतकेवली—विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु ये पाँच महर्षि होंगे। और पंचम कलि काल में ज्ञान धर्म तथा सुख, ये दिनोंदिन घटते जावेंगे।

हे श्रेणिक! अब आगे तुम भद्रबाहु मुनि का चरित्र सुनो। क्योंकि जिसके श्रवण से मूर्ख लोगों को अन्यमतों की उत्पत्ति ज्ञात हो जायेगी।

उस समय श्रेणिक महाराज ने श्री वीर जिनेन्द्र के मुख से भद्रबाहु मुनि का चरित्र जिस प्रकार सुना था, उसे उसी प्रकार इस समय संक्षेप से गुरुभक्ति के प्रमाद से मैं कहता हूँ।

★ ★ ★

इस लोक में विख्यात जम्बूद्वीप है। वह आदि होने पर भी अनादि है। परन्तु यह असम्भव है कि—जो आदि है, वह अनादि नहीं हो सकता। इस विरोध का परिहार इस प्रकार करना चाहिए कि—वह जम्बूद्वीप और दो घातकीखण्ड आदि सब द्वीपों में आदि (पहला) द्वीप है। इसलिए जम्बूद्वीप के आदि होकर अनादि होने में दोष नहीं आता। यह द्वीप षट्कुलाचल पर्वतों से सेवनीय हैं। अर्थात्—इसके भीतर छह कुलाचल शैल हैं तो समझिये कि—लक्ष्मी तथा कुलक्रम से वंशवृत्ति राजाओं के द्वारा सेवनीय क्या वसुधराधिपति हैं? उस जम्बूद्वीप के ललाट के समान उत्तम भरतक्षेत्र सुशोभित हैं। और उसके तिलक समान पुण्डवर्द्धन देश है।

जिस देश में धन-धान्य तथा मनुष्यों के, धेनुओं के समूह से विभूषित तथा महिष (भैंस) निवह से परिपूर्ण छोटे-छोटे ग्राम

राजाओं के समान मालूम देते हैं। क्योंकि राजलोग भी धनधान्य, जनसमूह, पृथ्वीमण्डल तथा रानियों से शोभित होते हैं।

जिस देश में आश्रित पुरुषों को उत्तम फल देनेवाले, शीतल छाया के करनेवाले, विशाल शोभा से युक्त, पृथ्वी के आश्रित तथा देखने में मनोहर वृक्ष श्रावकों के समान मालूम होते हैं, क्योंकि श्रावक लोग भी लक्ष्मी से युक्त, उत्तम क्षमा के स्थान तथा सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं।

जिस देश में नदी मात्र से निष्पन्न तथा मेघ मात्र से निष्पन्न क्षेत्र (खेत) से सुशोभित तथा मनोभिलषित धान्य की देनेवाली वसुन्धरा चिन्तामणि के समान मालूम पड़ती है। क्योंकि चिन्तामणि भी तो वांछित वस्तुओं को देनेवाला होता है।

जिस देश में पुरुषों को भ्रमर विलसित कमल-लोचनों से आनन्द को बढ़ानेवाली पक्षियों की श्रेणियों से शोभित निर्मल जल से परिपूर्ण तथा जिनका सुन्दर आकार देखने योग्य है, ऐसी सरसियें शोभती हैं तो समझिये कि देश की उत्कृष्ट शोभा देखने के लिये कौतूहल से प्रगट हुई पृथ्वीरूप कान्ता की आनन्दश्री है क्या? क्योंकि मुखश्री भी लोचनों से आनन्द देनेवाली दाँतों की पंक्ति से विराजित, निर्मल तथा देखनेयोग्य होती हैं।

तथा जिस देश में प्रसूति गृह में अरिष्ट शब्द का व्यवहार होता था, प्रतारणपना जम्बुक (श्याल) में था, बन्धन हाथियों में था, पल्लवों में छेदन होता था, भंगपना जलतरंग में था, चपलता बन्दरों में थी, चक्रवाक रात्रि में सशोक होता था, मद विशिष्ट हाथी या तथा कुटिलता स्त्रियों की भूवल्लरियों में थी, इन बातों

को छोड़कर प्रजा में न कोई अरिष्ट (बुरा करनेवाला) था न ठगनेवाला था, न किसी का बन्धन होता था, न किसी का छेदन था, न किसी का नाश होता था, न किसी में चपलता थी, न किसी को किसी तरह का शोक था, न कोई अभिमानी था; तथा न किसी में कुटिलता थी।

तात्पर्य यह है कि पुण्ड्रवर्द्धन देश की प्रजा सर्व तरह आनन्दित थी, उसमें किसी प्रकार का उपद्रव न था।

जिस पुण्ड्रवर्द्धन देश में स्वर्ग के खण्ड समान अत्यन्त मनोहर कोट्टपुर नाम नगर अट्टाल सहित बड़े-बड़े ऊँचे गोपुरद्वार खातिका तथा प्राकार से सुशोभित हैं।

जिसमें-अतिशय उन्नत-उन्नत शिखरवाली हर्म्यश्रेणियाँ ऐसी मालूम पड़ती हैं, समझिये कि—अपने ध्वजारूप हाथों से चन्द्रमा का कलंक मिटाने के लिये खड़ी हैं।

जिस नगरी में-निर्मल, सुकृत के समूह समान भव्य पुरुषों के द्वारा सेवनीय जिन चैत्यालयों के शिखर सम्बन्धी अनेक प्रकार महा अमूल्य-मणि-माणिक्य से जड़े हुए सुवर्णों के कलशों की चारों ओर फैली हुई किरणों से गगन मण्डल में विचित्र चन्द्रोपक (चन्दोवा) की शोभा होती थी।

जिन नगरी में दानी लोग यद्यपि थे तो दयाशाली परन्तु विचारे कुबेर को तो निर्दय होकर निरन्तर महापीडा करते थे। भावार्थ—वहाँ के दानी लोग धन से भी अधिक उदार थे।

जिन लोगों का धन तो जिन पूजादि में व्यय होता था, चित्त जिन भगवान के धर्म में लीन रहता था, गमन अच्छे-अच्छे तीर्थों

की यात्रा करने के लिए होता था, कान जैन शास्त्रों के श्रवण में लगते थे, वे लोग स्तुति गुणवानों की करते थे तथा नमस्कार जिनदेव के चरणों में करते थे। अधिक क्या कहें, कोट्टपुरनगर निवासी सब लोग धर्म-प्रवृत्ति में सदैव तत्पर रहते थे।

उस पुण्ड्रवर्द्धन का जिसने अपने तेज से समस्त राजा लोगों को वश कर लिये हैं, सन्तान के समान प्रजा को देखनेवाला, राजा लोगों के योग्य तीन शक्ति से मण्डित, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद प्रभृति छह अन्तरंग शत्रुओं को जीतनेवाला तथा उत्तम मार्ग में सदैव प्रयत्नशील पद्मधर नाम राजा था।

उसके दूसरी लक्ष्मी के समान पद्मश्री नाम महिषी थी। तथा सोमशर्म पुरोहित था।

वह पुरोहित विचारशील, विशुद्ध हृदय तथा वेदविद्या का ज्ञाता था और द्विजराज (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ) होकर भी द्विजराज (चन्द्र अथवा गरुड़) न था। क्योंकि द्विज नाम नक्षत्रों का है और नक्षत्रों का राजा चन्द्र होता है, अथवा द्विज नाम पक्षियों का है और उनका राजा गरुड़ होता है। परन्तु यह दोनों न होकर ब्राह्मणों में उत्तम था। क्योंकि द्विज नाम ब्राह्मण का भी है।

सोमशर्म के—चन्द्रवदनी, विशाल लोचनवाली, स्वाभाविक अपने सौन्दर्य से देवांगनाओं को जीतनेवाली तथा सूर्य की जैसी कान्ति होती है, चन्द्रमा की जैसी शिखा होती है, उसी समान सुन्दर लक्षणों की धारक प्रशंसनीय सोमश्री नाम की कान्ता थी।

सोमशर्म अपनी सुन्दरी के साथ अतिशय रमण करता हुआ सुखपूर्वक काल को बिता था, जिस प्रकार कामदेव अपनी

रतिकान्ता के साथ प्रणयपूर्वक रमण करता हुआ काल को बिताता है।

पुण्यकर्म के उदय से कृशोदरी सोमश्री ने शुभ नक्षत्र शुभ ग्रह तथा शुभ लग्न में अनेक प्रकार शुभ लक्षणों से युक्त तथा कामदेव के समान सुन्दर स्वरूपशाली पुत्ररत्न उत्पन्न किया, जिस प्रकार उत्तम बुद्धि ज्ञान उत्पन्न करती है। उस समय सोमशर्म ने पुत्र की प्रसन्नता में याचक लोगों के लिये उनकी इच्छानुसार दान दिया। और स्त्रियाँ मधुर-मधुर गीत, गाने लगीं, नृत्य करने लगीं, दुन्दुभि बजने लगे तथा गृहों पर ध्वजायें लटकाई गईं। इत्यादि नाना प्रकार से पुत्र का जन्म महोत्सव मनाया गया।

अधिक क्या कहा जाये, उस पुण्यशाली सुसुत के अवतार लेने से सभी को उसी प्रकार आनन्द हुआ। जिस प्रकार सूर्य के उदयाद्रि पर आने से कमलों को तथा चन्द्रोदय से चकोरों को आनन्द होता है।

यह बालक कल्याण का करनेवाला होगा, सौम्यमूर्ति का धारक है, सरल चित्त है; इसलिए उसे बन्धुओं के द्वारा भद्रबाहु नाम से सुशोभित किया गया।

वह सुन्दर स्वरूपशाली भद्रबाहु शिशु स्त्रियों के द्वारा खिलाया हुआ एक के हाथ से, एक के हाथ में खेला, पृथ्वी में कभी नहीं उतरा।

सम्पूर्ण संसार को आल्हाद का देनेवाला शुक्ल द्वितीया का चन्द्र जैसे दिनों दिन कलाओं के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी तरह अखिल जगत को आनन्द देनेवाला यह बालक भी

अपने गुणों के साथ ही साथ प्रतिदिन बढ़ने लगा।

अपने सौभाग्य, धैर्य, गम्भीरता तथा रूप लावण्य से पृथ्वी मण्डल को मुग्ध करनेवाला भद्रबाहु शिशु, कुमार अवस्था को प्राप्त होकर देवकुमारों के समान शोभित होने लगा।

कला विज्ञान में कुशल भद्रबाहु अपने समान आयु के धारक और दो कुमारों के साथ आनन्दपूर्वक खेलता रहता था।

किसी समय यह कुमार जब अपने नगर के बाहर और दो कुमारों के साथ खेलता था, उस समय इसने अपनी कुशलता से एक के ऊपर एक इस तरह क्रमशः तेरह गोली चढ़ा दीं और शीघ्र ही उनके ऊपर चतुर्दशमी गोली भी चढ़ा दी।

जिस प्रकार चन्द्रमा ताराओं से विभूषित होता है, उसी प्रकार मुनिमण्डल से विराजित अनेक प्रकार गुणों से युक्त, अपने उत्तम ज्ञानरूप शशिकिरण सदोह से सर्व दिशायें निर्मल करनेवाले और शोभायमान चारित्ररूप सुन्दर आभूषण से शोभित श्री गोवर्द्धनाचार्य गिरनार पर्वत पर श्री नेमिनाथ भगवान की यात्रा की अभिलाषा से विहार करते हुए कोट्टपुर में आ निकले।

पुर के समीप आये हुए दिगम्बर साधु-समूह को देखकर खेलते हुए वे सब बालक भय से भाग गये।

उनमें केवल बुद्धिमान, शुद्धात्मा, विचारशील तथा सन्तोषी भद्रबाहुकुमार ही वहाँ पर ठहरा।

गोवर्द्धनाचार्य ने एक के ऊपर एक गोली इसी तरह ऊपर-ऊपर चतुर्दश गोली चढ़ाते हुए उसे देखकर अपने अन्तरंग में विचार किया कि पंचम श्रुतकेवली निमित्त से जाना जायेगा, ऐसा

केवलज्ञानी श्री वीर भगवान ने कहा हैं, सो वह महा तपस्वी, महा तेजस्वी, ज्ञानरूपी समुद्र का पारगामी तथा भव्यरूप कमलों के प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान भद्रबाहु होगा।

सो निमित्त लक्षणों से तो यह उत्पन्न हो गया, ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार हृदय में विचारकर कुमार से गोवर्द्धनाचार्य ने कहा—दर्शनश्रेणी रूप चाँदनी के प्रकाश से समस्त दिशाओं को उज्ज्वल करनेवाले हे कुमार! हे भाग्यशाली!! यह तो कह कि तेरा नाम क्या है? तू किस कुल में समुत्पन्न हुआ है? और किसका पुत्र है?

मुनिराज के उत्तम वचन सुनकर और उनके चरणों को बारम्बार प्रणाम कर विनयपूर्वक कुमार बोला, हे विभो! मेरा नाम भद्रबाहु है, द्विजवंश में मैं समुत्पन्न हुआ हूँ तथा सोमश्री जननी और सोमशर्म पुरोहित मेरे पिता हैं।

फिर मुनिराज बोले—महाभाग! हमें अपना घर तो बताओ। मुनिराज के वचन से, विनय से, विनम्र मस्तक सन्तुष्ट चित्त भद्रबाहु, स्वामी को अपने गृह पर ले गया। भद्रबाहु के माता-पिता महामुनि को आये हुए देखकर अत्यन्त प्रसन्न मुख हुए, और सानन्द उठे तथा मुनिराज को भक्तिपूर्वक नमस्कार कर उनके विराजने के लिए मनोहर सिंहासन दिया। जिस प्रकार उदयाचल पर सूर्य ठहरता है, उसी तरह मुनिराज भी सिंहासन पर बैठे।

इसके बाद कांतासहित सोमशर्म ने हाथ जोड़कर कहा—दयासिंधो! आज आपके चरण-सरोज के दर्शन से मैं सनाथ हुआ। आपके पधारने से मेरा गृह पवित्र हुआ। विभो! मुझ दास

के ऊपर कृपाकर किसी योग्य कार्य से अनुग्रहीत करिए। पश्चात् मुनिराज मधुर वचन से बोले—भद्र! यह तुम्हारा पुत्र भद्रबाहु समस्त विद्या का जाननेवाला होगा; इसलिए इसे पढ़ाने को हमें दे दो। मैं बड़े आदर से इसे सब शास्त्र बहुत जल्दी पढ़ाऊँगा। मुनिराज के वचन सुनकर कान्ता सहित सोमशर्म बहुत प्रसन्न हुआ।

फिर दोनों हाथ जोड़कर बोला—प्रभो! यह आपका ही पुत्र है, इसमें मुझे आप क्या पूछते हैं? अनुग्रह कर इसे आप ले जाइए और सब शास्त्र पढ़ाइए। सोमशर्म के कहने से भद्रबाहु को अपने स्थान पर लिवा ले जाकर योगिराज ने उसे व्याकरण, साहित्य तथा न्याय प्रभृति सब शास्त्र पढ़ाये। यद्यपि भद्रबाहु तीक्ष्ण बुद्धिवाला था तो भी गुरु के उपदेश से उसने सब शास्त्र पढ़े।

यह बात ठीक है कि मनुष्य चाहे कितना भी सूक्ष्मदर्शी नेत्रवाला क्यों न हो परन्तु प्रदीप के बिना वह वस्तु नहीं देख सकता। सो भद्रबाहु-गुरुरूप कर्णधार के द्वारा चलाई हुई अपनी उत्तम बुद्धिरूप नौका में चढ़कर विनयरूप वायुवेग से सुशास्त्र रूप समुद्र के पार हो गया।

फिर कितने दिनों के प्रसन्न मुखसरोज भद्रबाहु ने कर कमल जोड़कर गुण विराजित गुरुवर से प्रार्थना की कि प्रभो! स्वामी की कृपा से मुझे सब निर्मल विद्याएँ संप्राप्त हुईं। आप जन्म देनेवाले माता-पिता के भी अत्यन्त उपकारक हैं। माता-पिता तो जन्म-जन्म में फिर भी प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु मनोभिलाषित फल की देनेवाली और पूजनीय ये उत्तम विद्याएँ बहुत ही दुर्लभ

हैं। यदि आप आज्ञा दें तो मैं अपने गृह पर जाऊँ?

इस प्रकार प्रार्थना कर और उनकी आज्ञा लेकर कृतज्ञ तथा सम्यक्त्वरूप सुन्दर भूषण से विभूषित भद्रबाहु-गुरु महाराज के चरणों को बारंबार नमस्कार कर ''गुरु माता के समान हित के उपदेश करनेवाले होते हैं'' इत्यादि उनके गुणों को चित्त में संचिन्तवन करता हुआ, अपने मकान पर गया। यह बात ठीक है कि जो सत्पुरुष होते हैं, वे गुणानुरागी होते हैं।

उस समय माता-पिता भी अपने सुपुत्र भद्रबाहु को रूप यौवन से युक्त तथा सुन्दर विद्याओं से विभूषित देखकर बहुत आनन्द को प्राप्त हुए।

यह बात ठीक है कि सुवर्ण की मुद्रिका में जड़ा हुआ मणि आनन्द को देता ही है। पश्चात् आनन्दित भद्रबाहु के माता-पिता ने पुत्र का दोनों हाथों से आलिंगन कर परस्पर में कुशल समाचार पूछे। भद्रबाहु भी अपनी विद्याओं के द्वारा समस्त कुटुम्ब को आनन्दित करता हुआ वहीं पर अपने गृह में रहने लगा।

किसी समय भद्रबाहु संसारभर में जिनधर्म के उद्योत की इच्छा से अत्यन्त गर्वरूप उन्नत पर्वत के शिखर ऊपर चढ़े हुए, अभिमानी, अपनी कपोलरूप झालरी से उत्पन्न हुए शब्द से इच्छानुसार प्रचुर रसयुक्त महाविद्यारूप नृत्यकारिणी को नृत्य करानेवाले तथा दूसरों से वाद करने में प्रवीण ऐसे-ऐसे विद्वानों से विभूषित महाराज पद्मधर की सुन्दर सभा में गया।

पद्मधर नृपति ने भी समस्त विद्याओं में विचक्षण द्विजोत्तम भद्रबाहु को आता हुआ देखकर तथा उसे अपने पुरोहित का पुत्र

समझकर मनोहर आसनादि से उसका सत्कार किया। वह भी महाराज को आशीर्वाद देकर सभा के बीच में बैठ गया।

वहाँ पर उन मदोद्धत ब्राह्मणों के साथ विवाद करके उदयशाली तथा विशुद्ध आत्मा के धारक भद्रबाहु ने स्याद्वादरूप खड्ग से उन सबको जीता।

साथ ही उनके तेज को दाबकर अपने तेज को प्रकाशित किया, जैसे चन्द्रादि के तेज को दबाकर सूर्य अपना तेज प्रकाशित करता है।

बुद्धिमान भद्रबाहु ने अपनी विद्या के प्रभाव से सभा में बैठे हुए समस्त राजादि को प्रतिबोधित करके जैन मार्ग की अत्यन्त प्रभावना की।

भद्रबाहु के इस प्रकार प्रभाव को देखकर राजा ने जिनधर्म को ग्रहण किया और संतुष्टचित्त होकर उसके लिए वस्त्राभूषण पूर्वक बहुत धन दिया।

तत्पश्चात् वहाँ से भद्रबाहु अपने गृह पर आया। न कोई ऐसा वाग्मी हैं, न कोई वादी है, न कोई शास्त्र का जाननेवाला है, न कोई ज्ञानवान है, तथा न कोई ऐसा विनयशाली हैं, इस प्रकार बुद्धिमानों के द्वारा प्रसिद्धि को प्राप्त हुए बुद्धिशाली भद्रबाहु ने एक दिन अपने माता-पिता से विनयपूर्वक कहा।

तात! मैं संसार भ्रमण से बहुत डरता हूँ। इसलिए इस समय तप ग्रहण करने की इच्छा है। यदि प्रीतिपूर्वक आज्ञा दें तो सुख प्राप्ति के अर्थ तप ग्रहण करूँ।

इस प्रकार के दु:खहारी वचनों को सुनकर माता-पिता ने

कहा—पुत्र! इस प्रकार निष्ठुर वचन तुम्हें कहना योग्य नहीं।

प्यारे! अभी तुम समझते नहीं। अरे! कहाँ यह केले के गर्भ समान अतिशय कोमल शरीर! और कहाँ अच्छे-अच्छे सत्पुरुषों के लिये भी दुर्लभ असह्य व्रत का ग्रहण?।

अभी तो तुम्हारी बाल्यावस्था है, इसमें तो पंचेन्द्रिय समुत्पन्न सुखों का अनुभव करना चाहिए। इसके बाद वृद्धावस्था में तप ग्रहण करना।

माता-पिता के वचनों को सुनक सरल-हृदय भद्रबाहु बोला—तात! आपने कहा सो ठीक है, परन्तु व्रत धारण किये बिना यह मानव जीवन निष्फल है, जैसे सुगन्ध के बिना पुष्प निष्फल समझा जाता है।

देखो! मोही पुरुषों के देह को ग्रहण करने के लिए एक ओर तो मृत्यु तैयार है, और एक ओर वृद्धावस्था तैयार है, तो ऐसे शरीर में सत्पुरुषों को क्या आशा हो सकती है।

और फिर जब जरा से जर्जरित तथा तृष्णा के स्थान इस शरीर में वृद्धावस्था अपना अधिकार जमा लेगी तब, तप तथा व्रत वहाँ? दूसरे, ये भोग पहले तो कुछ सुन्दर से मालूम पड़ते हैं परन्तु वास्तव में सर्प के शरीर समान दुःख के देनेवाले हैं, सन्ताप के करनेवाले हैं और परिपाक में अत्यन्त दुःख के देनेवाले हैं।

कुगति रूप खारे जल से भरे हुए तथा पीड़ारूप मकरादि जन्तुओं से कूलंकष इस असार संसार समुद्र में जीवों को एक धर्म ही शरण है।

देखो! मोही पुरुष इन भोगों में व्यर्थ ही मोह करते हैं, किन्तु

जो बुद्धिमान हैं, वे कभी मोह नहीं करते; इसलिए क्या मोक्ष का साधक संयम ग्रहण करूँ ?

इत्यादि नाना प्रकार के उत्तम-उत्तम वचनों से वैराग्य-हृदय भद्रबाहु ने अत्यन्त मोह के कारण अपने माता-पितादि समस्त बन्धुओं को समझाया। और उसके बाद माता-पिता की आज्ञा से संयम के ग्रहण करने की अभिलाषा से गोवर्द्धनाचार्य के पास गया।

उन्हें नमस्कार कर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बोला हे स्वामी! कर्मों के नाश करनेवाली पवित्र दीक्षा मुझे प्रदान कीजिए।

भद्रबाहु के वचनों को सुनकर गोवर्द्धनाचार्य बोले—वत्स! संयम के द्वारा अपने मानव जीवन को सफल करो! गुरु की आज्ञा से भद्रबाहु भी आत्मा के दु:ख का कारण बाह्याभ्यन्तर परिग्रहण त्यागकर हर्ष के साथ दीक्षित हो गये।

निर्दोष तथा श्रेष्ठ व्रतों से मण्डित कान्तिशाली, संसार के बन्धु तथा दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) साधुओं के मार्ग में स्थित भद्रबाहु, सूर्य के समान शोभने लगे। क्योंकि सूर्य भी तो रात्रि से रहित तथा वर्तुलाकार होता है, तेजस्वी होता है, सारे संसार का बन्धु (प्रकाशक) होता है तथा गगन मार्ग में गमन करता रहता है।

मुनियों के मूलगुण रूप मनोहर मणिमय हार लता से विभूषित तथा दया के धारक भद्रबाहु मुनि जीवों के प्रिय और हितरूप वचन बोलते थे।

प्रतिज्ञाओं के ग्रहणपूर्वक दुर्निवार कामरूप हाथी को ब्रह्मचर्यरूप वृक्ष में बाँधनेवाले, परिग्रह में ममत्व परिणाम का

छेदन करनेवाले, रात्रि आहार के त्यागी, अपने आत्मस्वरूप को जाननेवाले, शास्त्रानुसार गमन आलाप भोजनादि करनेवाले, यथाविधि आदान निक्षेपणादि समितियों में अतिचार न लगानेवाले, इन्द्रियरूप अश्व को आत्माधीन करनेवाले, छह आवश्यक कर्म के पालक, वस्त्रत्याग, लोंच, पृथ्वी पर शयन, अस्नान, खड़े होकर भोजन, दन्त का न धोना तथा एक भुक्त आदि मूलगुणों के धारक और बाईस परीषह के जीतनेवाले समस्त संघ को आनन्दित करनेवाले तथा अत्यन्त विनयी बुद्धिमान भद्रबाहु मुनि ने अपने गुरु के अनुग्रह से द्वादशांग शास्त्र पढ़े।

फिर अपने में श्रुतज्ञान की पूर्णता हुई समझकर भद्रबाहु जब श्रुतज्ञान की भक्ति से कायोत्सर्ग धारण कर स्थित थे, उस समय प्रात:काल में समस्त देव तथा मनुष्यों ने आकर भद्रबाहु महामुनि की अत्यन्त भक्तिपूर्वक हर्ष के साथ पूजन की।

अपने गाम्भीर्य से समुद्र को जीतनेवाले, कान्ति से चंद्रमा को लज्जित करनेवाले, तेज के द्वारा सूर्य को जीतनेवाले तथा धैर्य से सुमेरु पर्वत को नीचा करनेवाले—इत्यादि गुणमणि माला रूप भूषण से विभूषित और सम्पूर्ण जगत को आनन्द का देनेवाले भद्रबाहु अत्यन्त शोभने लगे।

फिर कुछ दिनों बाद गोवर्द्धनाचार्य ने भद्रबाहु को गुणरत्न का समुद्र समझकर अपने आचार्यपद में नियोजित किया, भद्रबाहु भी अपनी कान्तिसमूह को प्रकाशित करते हुए, महामोह रूप अन्धकार का नाश करते हुए गोवर्द्धन गुरु के पद में ऐसे शोभने लगे, जैसा उदयाचल पर्वत पर सूर्य शोभता है। क्योंकि –सूर्य भी

तो जब उदयपर्वत पर आता है, उस समय अपने कान्तिसमूह को भासूर करता है और अन्धकार का नाश करता है।

यह ठीक है कि – पुण्यकर्म के उदय से जीवों का अच्छे उत्तम वंश में जन्म होता है, उत्कृष्ट शरीर संप्राप्त होता है, मनोहर तथा अनवद्य विद्यायें प्राप्त होती हैं, गुणों से विशिष्ट गुरुओं के चरणकमल में अत्यन्त भक्ति होती हैं, गम्भीरता, उदारता तथा धैर्यादि गुणों की उपलब्धि होती है, उत्तम चारित्र होता है, प्रभुत्वता होती है, जैनधर्म में श्रद्धा (आस्था) होती हैं तथा चन्द्रमा के समान निर्मल अनन्तकीर्ति प्राप्त होती है।

निर्मल ज्ञानरूप क्षीर समुद्र की वृद्धि के लिये चन्द्रमा, श्री गोवर्द्धन गुरु के चरणरूप उदयाचल पर्वत के लिये सूर्य, मनोहरकीर्ति के धारक, उत्तम–उत्तम गुणों के आलय तथा मुनियों के स्वामी श्री भद्रबाहु मुनिराज का आप लोग सेवन करें।

इति श्री रत्ननन्दि अपरनाम रत्नकीर्ति आचार्य के बनाये हुए भद्रबाहु चरित्र के अभिनव हिन्दी भाषानुवाद में भद्रबाहु की दीक्षा का वर्णनवाला प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥१॥

द्वितीय परिच्छेद

पश्चात् श्री गोवर्द्धनाचार्य नाना प्रकार तपश्चरण कर अन्त में चार प्रकार आहार के परित्यागपूर्वक चार प्रकार की आराधनाओं के आराधन में तत्पर हुए और समाधिपूर्वक शरीर को छोड़कर देव तथा देवांगनाओं से युक्त और उत्कृष्ट सम्पत्तिशाली स्वर्ग में जाकर देव हुए।

उधर श्री भद्रबाहु आचार्य - अपने समस्त संघ का पालन करते हुए भव्य मनुष्यों को सन्तुष्ट करते हुए तथा दूसरे मतों को बाधित ठहराते हुए शोभते थे।

पृथ्वी मण्डल में आनन्द बढ़ाते हुए और धर्मामृत बरसाते हुए श्री भद्रबाहु मुनिराज-ताराओं के समूह से युक्त जैसा चन्द्रमा गगन मण्डल में विहरता रहता है, उसी तरह पृथ्वीतल में विहार करने लगे।

विवेक, विनय, धन-धान्यादि सम्पदाओं से समस्त देश को जीतनेवाले अवंती नामक देश में प्राकार से युक्त (वेष्टित) तथा श्री जिनमन्दिर, गृहस्थ, मुनि, उत्तम धर्म से विभूषित उज्जयिनी नाम पुरी हैं।

उसमें चन्द्रमा के समान निर्मल कीर्ति का धारक चन्द्रमा के समान आनन्द का देनेवाला, सुन्दर-सुन्दर गुणों से विराजमान, ज्ञान तथा कलाकौशल में सुचतुर, जिन पूजन करने में इन्द्र समान चार प्रकार दान देने में समर्थ तथा अपने प्रताप से सूर्य को पराजित करनेवाला चन्द्रगुप्ति नामक राजा था।

उसके चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान प्रशंसनीय तथा रूप लावण्यादि गुणों से शोभायमान चन्द्रश्री नामक रानी थी।

किसी समय महाराज चन्द्रगुप्ति-सुखनिंद्रा में वात, पित, कफादि रहित (निरोग अवस्था में) सोये हुए थे, उस समय रात्रि के पिछले पहर में आश्चर्यजनक नीचे लिखे सोलह खोटे स्वप्न देखे। वे ये हैं—

(१) कल्पवृक्ष की शाखा का टूटना (२) सूर्य का अस्त होना (३) चालनी के समान छिद्रसहित चन्द्रमण्डल का उदय (४) बारह फणवाला सर्प (५) पीछे लौटा हुआ देवताओं का मनोहर विमान (६) अपवित्र स्थान पर उत्पन्न हुआ विकसित कमल (७) नृत्य करता हुआ भूतों का परिकर, (८) खद्योत का प्रकाश (९) अंत में थोड़े से जल का भरा हुआ तथा बीच में सूखा हुआ सरोवर (१०) सुवर्ण के भाजन में श्वान का खीर खाना (११) हाथी पर चढ़ा हुआ बन्दर (१२) समुद्र की मर्यादा छोड़ना (१३) छोटे-छोटे बच्चों से धारण किया हुआ और बहुत भार से युक्त रथ (१४) ऊँट पर चढ़ा हुआ तथा धूलि से आच्छादित राजपुत्र (१५) देदीप्यमान कांतियुक्त रत्नराशि तथा (१६) काले हाथियों का युद्ध।

इन स्वप्नों के देखने से चन्द्रगुप्ति को बहुत आश्चर्य हुआ। और किसी योगीराज से इनके शुभ तथा अशुभ फल के पूछने की अभिलाषा की।

उधर शुद्ध-हृदय भद्रबाहु आचार्य-अनेक देशों में विहार करते हुए बारह हजार मुनियों को साथ लेकर भव्य पुरुषों के

शुभोदय से उज्जयिनी में आये और पुर बाहिर उपवन में जन्तुरहित स्थान में ठहरे।

साधु के माहात्म्य से वन फल-पुष्पादि से बहुत समृद्ध हो गया। वनपाल मुनिराज का प्रभाव समझकर वन में से नाना प्रकार फल-पुष्पादि लेकर सविनय मधुरता से बोला—देव! आपके पुण्यकर्म के उदय से मुनिसमूह से विराजमान श्री भद्रबाहु महर्षि उपवन में आये हुए हैं। वनपाल के वचन सुनकर महाराज चन्द्रगुप्ति उसी प्रकार अत्यन्त आनन्दित हुए, जिस प्रकार मेघ के गर्जन से मयूर आनन्दित होता है। उस समय राजा ने वनपाल के लिये बहुत धन दिया और मुनिराज के अभिवन्दन की उत्कण्ठा से नगर भर में आनन्द भेरी दिलवाकर गीत-नृत्य-वादित्र तथा सामन्तादि सहित महाविभूतिपूर्वक नगर से बाहिर निकले।

आचार्य महाराज के पास जाकर विनयभाव से उनकी प्रदक्षिणा की। पश्चात् क्रम से और-और मुनियों की भी अभिवन्दना स्तुति तथा पूजनादि करके उनके मुखारविन्द से सप्ततत्त्व गर्भित धर्म का स्वरूप सुना। उसके बाद मौलि-विभूषित मस्तक से भक्तिपूर्वक प्रणाम कर दोनों करकमलों को जोड़कर भद्रबाहु श्रुतकेवली से पूछा। नाथ! मैंने रात्रि के पिछले पहर में कल्पद्रुम की शाखा का भंग होना, इत्यादि सोलह स्वप्न देखे हैं, उनका आप फल कहें।

राजा के वचन सुनकर दाँतों की किरणों से सारे दिशामण्डल को प्रकाशित करनेवाले योगिराज भद्रबाहु बोले—राजन्! मैं स्वप्नों का फल कहता हूँ, उसे तुम स्वस्थचित्त होकर सुनो। क्योंकि इनका फल, पुरुषों को वैराग्य का उत्पन्न करनेवाला तथा आगामी

खोटे काल का सूचन करनेवाला है, सबसे पहले जो रवि का अस्त होना देखा गया है—सो उससे इस अशुभ पंचम काल में एकादशांग पूर्वादि श्रुतज्ञान न्यून हो जाएगा।

(१) कल्पवृक्ष की शाखा का भंग देखने से अब आगे कोई राजा जिन भगवान के कहे हुए संयम का ग्रहण नहीं करेंगे।

(२) सूर्य के अस्त को देखने से कर्मरहित केवलज्ञान का भी अस्त हो जाएगा। अर्थात् अब आगे के केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान तथा उनकी ऋद्धियों का भी क्षय होगा।

(३) चंद्रमण्डल का बहुत छिद्रयुक्त देखना—पंचम कलिकाल में जिनमत के अनेक मतों का प्रादुर्भाव कहता है।

(४) बारह फणयुक्त सर्पराज के देखने से बारह वर्षपर्यन्त अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा।

(५) देवताओं के विमान को उल्टा जाता हुआ देखने से पंचम काल में देवता, विद्याधर तथा चारणमुनि नहीं आवेंगे।

(६) खोटे स्थान में कमल उत्पन्न हुआ जो देखा है, उससे बहुधा हीन जाति के लोग जिनधर्म धारण करेंगे किन्तु क्षत्रिय आदि उत्तम कुल-संभूत मनुष्य नहीं करेंगे।

(७) आश्चर्यजनक जो भूतों का नृत्य देखा है, उससे मालूम होता है कि मनुष्य नीचे देवों में अधिक श्रद्धा के धारक होंगे।

(८) खद्योत का उद्योत देखने से—जिन सूत्र के उपदेश करनेवाले भी मनुष्य मिथ्यात्व करके युक्त होंगे और जिनधर्म भी कहीं-कहीं रहेगा।

(९) जलरहित तथा कहीं थोड़े जल से भरे हुए सरोवर के देखने से जहाँ तीर्थंकर भगवान के कल्याणादि हुए, ऐसे तीर्थस्थानों में कामदेव के मद का छेदन करनेवाला उत्तम जिनधर्म नाश को प्राप्त होगा तथा कहीं दक्षिणादिदेश में कुछ रहेगा भी।

(१०) सुवर्ण के भाजन में कुत्ते ने जो खीर खाई है, उससे मालूम होता है कि लक्ष्मी का प्रायः नीच पुरुष उपभोग करेंगे और कुलीन पुरुषों को दुष्प्राप्य होगी।

(११) ऊँचे हाथी पर बन्दर बैठा हुआ देखने से नीच कुल में पैदा होनेवाले लोग राज्य करेंगे, क्षत्रिय लोग राज्य रहित होंगे।

(१२) मर्यादा का उल्लंघन किया हुए समुद्र के देखने से प्रजा की समस्त लक्ष्मी राजा लोक ग्रहण करेंगे तथा न्याय मार्ग के उल्लंघन करनेवाले होंगे।

(१३) बछड़ों से वहन किये हुए रथ के देखने से बहुधा करके लोग तारुण्य अवस्था में संयम ग्रहण करेंगे किन्तु शक्ति के घट जाने से वृद्धा अवस्था में धारण नहीं कर सकेंगे।

(१४) ऊँट पर चढ़े हुए राजपुत्र के देखने से ज्ञात होता है कि राजा लोग निर्मल धर्म को छोड़कर हिंसा मार्ग स्वीकार करेंगे।

(१५) धूलि से आच्छादित रत्नराशि के देखने से निर्ग्रन्थ मुनि भी परस्पर में निन्दा करने लगेंगे।

(१६) काले हाथियों का युद्ध देखने से मेघ मनोभिलषित नहीं बरसेंगे।

राजन! इस प्रकार स्वप्नों का जैसा फल है, मैंने तुमसे कहा।

राजा भी स्वप्नों का फल सुनकर संसार से भयभीत हुआ और मन में विचारने लगा।

अहो! विपत्तिरूप घातक दुष्ट जीवों से ओतप्रोत भरे हुए तथा कालरूपी अग्नि से महा भयंकर इस असार संसार वन में केवल भ्रम से यह जीव भ्रमण करता रहता है।

अहो! रोग के स्थान, नाना प्रकार की मधुर-मधुर वस्तुओं से परिवर्द्धित किये हुए गुणरहित तथा दुष्टों के समान दुःख देनेवाले इस शरीर में यह आत्मा कैसे मोह करता होगा!

ये भोग सर्प के समान भयंकर हैं, असन्तोष के कारण है, सेवन के समय कुछ अच्छे से मालूम देते हैं परन्तु परिपाक (आगामी) समय में किम्पाक फल के समान प्राणों के नाशक हैं।

भावार्थ—किम्पाक फल ऊपर से तो बहुत अच्छा मालूम देता है। परन्तु खाने पर बिना प्राण लिये नहीं छोड़ता। वैसे ही ये भोग हैं जो सेवन समय तो जरा मनोहर से मालूम देते हैं परन्तु वास्तव में दुःख ही के कारण हैं।

अहो! कितने खेद की बात है कि यह जीव भोगों को भोगता तो है। परन्तु उत्तरकाल में होनेवाले दुःखों को नहीं देखता। जिस प्रकार बिलाव, प्रीतिपूर्वक दूध पीता हुआ भी ऊपर से पड़नेवाली लकड़ी की मार सहन किये जाता है। इस प्रकार भवभ्रमण से भयभीत महाराज चन्द्रगुप्ति ने शरीर गृहादि सब वस्तुओं से विरक्त होकर अपने पुत्र के लिए राज्य दे दिया। तथा समस्त बन्धु-समूह से क्षमा कराकर भद्रबाहु गुरु के समीप गया और विनयपूर्वक जिनदीक्षा के लिये प्रार्थना की। फिर स्वामी की आज्ञा से

बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का परित्याग कर शिव-सुख का साधन शुद्ध संयम स्वीकार किया।

एक दिन श्री भद्रबाहु आचार्य जिनदास सेठ के घर पर आहार के लिये आये। जिनदास ने भी स्वामी का अत्यन्त आनन्दपूर्वक आह्वानन किया। परन्तु उस निर्जन गृह में केवल साठ दिन की आयु का एक बालक पालने में झूलता था। जब मुनिराज गृह में गये उस समय बालक ने—जाओ!! जाओ!! ऐसा मुनिराज से कहा। बालक के अद्‌भुत वचन सुनकर मुनिराज ने पूछा—वत्स! कहो तो कितने वर्ष तक? फिर बालक ने कहा—बारह वर्ष पर्यन्त। बालक के वचन से मुनिराज ने निमित्त ज्ञान से जाना कि—मालवदेश में बारह वर्ष पर्यन्त भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। दयालु मुनिराज अन्तराय समझकर उसी समय घर से वापिस वन में चले गये।

पश्चात् श्री भद्रबाहु आचार्य ने अपने स्थान पर आकर समस्त मुनिसंघ को बुलाया और तप तथा संयम की वृद्धि के कारण ये वचन कहने लगे—साधुओ! इस देश में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पड़ेगा। धन धान्य तथा मनुष्यादि से परिपूर्ण और सुख का स्थान यह देश चोर राजादि के द्वारा लुटाकर शीघ्र ही शून्य हो जायेगा। इसलिए संयमी पुरुषों को ऐसे दारुण देश में रहना उचित नहीं है। इस प्रकार स्वामी के वचन सम्पूर्ण संघ ने स्वीकार किये और भद्रबाहु मुनिराज ने भी उसी समय समस्त संघसहित उस देश को छोड़ने की अभिलाषा की।

जब श्रावकों ने मुनिराज के संघ सहित जाने के समाचार

सुने तो उसी समय स्वामी के पास आये और विनय से मस्तक नवाकर बोले—भगवान! आपके गमन सम्बन्धित समाचारों के सुनने से भक्ति के भार से वश हुआ हम लोगों का मन क्षोभ को प्राप्त होता है।

नाथ! हम लोगों पर अनुग्रह कर निश्चलता से यहीं पर रहें। क्योंकि गुरु के बिना सब पशुओं के समान समझा जाता है।

जिस प्रकार सरोवर कमल के बिना, गन्ध रहित पुष्प सुगन्ध के बिना, हाथी दाँत के बिना शोभा को प्राप्त नहीं होता; उसी तरह भव्य पुरुष गुरु के बिना नहीं शोभते।

इस प्रकार श्रावकों के वचनों को सुनकर भद्रबाहु मुनिराज बोले—उपासकगण! तुम्हें मेरे वचनों पर भी ध्यान देना चाहिए। देखो, इस मालवदेश में बारह वर्ष पर्यन्त अनावृष्टि होगी तथा अत्यन्त भयंकर दुर्भिक्ष पड़ेगा। इसलिए व्रत भंग होने के भय से साधुओं को इधर नहीं रहना चाहिए।

समस्त श्रावक संघ ने स्वामी के वचन सुने, परन्तु हाथ जोड़कर फिर स्वामी से प्रार्थना की।

नाथ! यह संघ धनधान्यादि विभूषित से परिपूर्ण तथा समस्त कार्य के करने में समर्थ हैं और धर्म का भार धारण करने के लिये धुरन्धर हैं।

सो हम उसी तरह कार्य करेंगे जिस प्रकार धर्म की बहुत प्रवृत्ति होगी। आपको अनावृष्टि का बिल्कुल भय नहीं करना चाहिए। किन्तु यही अच्छा है कि आप निश्चल चित्त से यही निवास करें।

इस समय कुबेरमित्र सेठ बोला—नाथ! आपके प्रसाद से मेरे पास बहुत धन हैं, जो धन दान दिया हुआ भी कुबेर के समान नाश को प्राप्त नहीं होगा। मैं धर्म के लिये मनोभिलाषित दान करूँगा।

इतने में जिनदास सेठ भी मधुर वाणी से बोले—विभो! मेरे यहाँ भी नाना प्रकार धान्य के बहुत से कोठे भरे हुए है। जो सौ वर्ष पर्यन्त दान देने से भी कम नहीं हो सकते, तो बारह वर्ष की कथा ही क्या है? दीन हीन रंकादि दु:खी पुरुषों के लिये यथेष्ट दान देऊंगा, फिर यह दुर्भिक्ष क्या कर सकेगा?

इसके बाद माधवदत्त प्रार्थना करने लगा—दयानिधि! पुण्य के उदय से वृद्धि को प्राप्त हुई सर्व सम्पत्ति मेरे पास हैं, सो उसे पात्रदानादि से तथा समीचीन जिनधर्म के बढ़ाने से सफल करूँगा। इतने में बन्दुदत्त बोला—देव! आपके प्रसाद से मेरे पास बहुत धन हैं, सो उसके द्वारा दान मानादि से जिनशासन का उद्योत करूँगा। इत्यादि सर्व संघ ने भद्रबाहु आचार्य से प्रार्थना की।

तब मुनिराज बोले—आप लोग जरा अपने मन को सावधान करके कुछ मेरा भी सुनैं—यद्यपि कल्पवृक्ष के समान यह आप लोगों का संघ सम्पूर्ण काम के करने में समर्थ हैं। परन्तु तो भी सुन्दर चारित्र के धारण करनेवाले साधुओं को यहाँ ठहरना योग्य नहीं हैं। क्योंकि यहाँ अत्यन्त भयानक तथा दु:ख देनेवाला दुर्भिक्ष पड़ेगा। संयम की इच्छा करनेवाले पुरुषों को यह समय धान्य के समान अत्यन्त दुर्लभ होनेवाला है। यहाँ पर जितने साधु रहेंगे, वे संयम का परिपालन कभी नहीं कर सकेंगे, इसलिए हम तो यहाँ से अवश्य कर्णाटक देश की ओर जावेंगे।

उस समय सब श्रावक लोग श्री भद्रबाहुस्वामी के अभिप्रायों को समझकर रामल्य, स्थूलाचार्य तथा स्थूलभद्रादि साधुओं को प्रणाम कर भक्तिपूर्वक उनसे वहीं रहने के लिये प्रार्थना की। साधुओं ने भी जब श्रावकों का अधिक आग्रह देखा तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। और फिर बारह वर्ष पर्यन्त वही रहने का निश्चय किया।

(जब मुनिजन गुरु-आज्ञा का लोप करके श्रावकों के व्यामोह में पड़ते हैं तो मुनिदशा का सर्वनाश निश्चित है—यह परम सत्य तथ्य है, जो इस घटनाक्रम से सहज स्पष्ट है। श्रावकों के प्रति व्यामोह ने जिनशासन के मूलमार्ग में विभाजन की जो दुर्दशा देखी, वह निश्चित ही विचार को बाध्य करती है कि मुनिराजों को श्रावकों का संग और व्यामोह परित्याज्य है।)

शेष बारह हजार साधुओं को अपने साथ लेकर श्री भद्रबाहु आचार्य दक्षिण की ओर रवाना हुए। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस समय श्री भद्रबाहुस्वामी ठीक तारामण्डल से विराजित सुधांशु का अनुकरण करते थे।

जब श्री भद्रबाहु साधुराज चले गये, तब अवन्ती (उज्जयिनी) निवासी लोग स्वामी के चले जाने के शोक से परस्पर में कहने लगे कि अहो! वही तो देश भाग्यशाली हैं जिसमें सुन्दर चारित्र के धारक निर्ग्रन्थ साधु विहार करते रहते हैं, जो कमलिनियों से शोभित होता हैं तथा जहाँ राजहंस शकुन्त रहते हैं, ऐसा जो पुराने कार्तान्तिक (ज्योतिषी) लोगों ने कहा है, वह वास्तव में बहुत ठीक हैं।

अहो ! धर्म ही एक ऐसी उत्तम वस्तु हैं, जिससे जिन भगवान की परिचर्या का सौभाग्य मिलता है, निर्दोष गुरुओं की सेवा करने का सुअवसर मिलता है, विशुद्ध वंश में जन्म तथा ऐश्वर्य समुपलब्ध होता है, इसलिए धर्म का संचय करना समुचित हैं।

इति श्री रत्ननन्दि अपरनाम रत्नकीर्ति आचार्य विनिर्मित श्री भद्रबाहु चरित्र के अभिनव हिन्दी भाषानुवाद में सोलह स्वप्नों का फल तथा स्वामी के विहार वर्णन नाम द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ॥२॥

तृतीय परिच्छेद

श्री भद्रबाहुस्वामी विहार करते हुए धीरे-धीरे किसी गहन अटवी में पहुँचे। और वहाँ बड़े भारी आश्चर्य में डालनेवाली आकस्मिक आकाशवाणी सुनी। जब निमित्तज्ञान से उसका फल विचारा तो उन्हें यह मालूम हो गया कि अब हमारे जीवन का भाग बहुत ही थोड़ा है। उसी समय उन्होंने सब साधुसमूह को बुलाया और उनमें श्री विशाखाचार्य को गुणरूप विभव से विराजित, दशपूर्व के जाननेवाले तथा गम्भीरता धैर्यादि उत्तम-उत्तम गुणों के आधार समझकर उन्हें समस्त साधु संघ की परिपालना के लिये अपने पद पर नियोजित किये, और सब साधुओं से सम्बोधन करके कहा—

साधुओं! अब मेरे जीवन की अवधि बहुत थोड़ी बची हैं, इसलिए मैं तो यही पर इसी शैलकन्दरा में रहूँगा। आप लोग दक्षिण की ओर जावें और वहीं अपने संघ के साथ में रहें।

स्वामी के उदासीन वचनों को सुनकर श्री विशाखाचार्य बोले—विभो! आपको अकेले छोड़कर हम लोगों की हिम्मत जाने में कैसी होंगी? इतने में नवदीक्षित श्री चन्द्रगुप्त मुनि विनयपूर्वक बोले—आप इस विषय की चिन्ता न करें, मैं बारह वर्षपर्यन्त स्वामी के चरणों की सभक्ति परिचर्या करता रहूँगा।

उस समय भद्रबाहुस्वामी ने चन्द्रगुप्ति से जाने के लिये बहुत आग्रह किया परन्तु उनकी अविचल भक्ति उन्हें कैसे दूर कर सकती थी? साधु लोग भी गुरु-वियोगजनित उद्वेग से उद्वेलित

तो बहुत हुए, परन्तु जब स्वामी का अनुशासन ही ऐसा था तो वे कर ही क्या सकते थे ? सो किसी तरह यहाँ से चले ही।

ग्रन्थकार की यह नीति बहुत ही ठीक है कि वे ही तो उत्तम शिष्य कहे जाते हैं जो गुरु की आज्ञा के पालन करनेवाले होते हैं।

पश्चात् श्री विशाखाचार्य—समस्त साधु संघ के साथ-साथ ईर्यासमिति की शुद्धिपूर्वक दक्षिण देश में विहार करते हुए मार्ग में भव्य पुरुषों को सुमार्ग के अभिमुख करते हुए और नवदीक्षित साधुओं को पढ़ाते हुए चौलदेश में आये और फिर वहीं रहकर धर्मोपदेश करने लगे।

उधर तत्त्व के जाननेवाले विशुद्धात्मा तथा योग साधन में पुरुषार्थशाली श्री भद्रबाहु योगीराज ने अपने मन, वचन, काय के योगों की प्रवृत्ति को रोककर सल्लेखना विधि स्वीकार की। और फिर वहीं पर गिरिगुहा में रहने लगे। उनकी परिचर्या के लिये जो चन्द्रगुप्ति मुनि रहे थे, परन्तु वन में श्रावकों का अभाव होने से उन्हें प्रोषध करना पड़ता था। सो एक दिन स्वामी ने उनसे कहा—वत्स! निराहार तो रहना किसी तरह उचित नहीं है। इसलिए तुम वन में भी आहार के लिये जाओ। यह जैन शास्त्रों की आज्ञा हैं।

चन्द्रगुप्ति मुनि गुरु के कहे हुए वचनों को स्वीकार कर और उनके पादारबिन्दों को नमस्कार कर आहार के लिये वन में भ्रमण करने लगे। उस अटवी में पाँच वृक्षों के नीचे घूमते हुए चन्द्रगुप्ति मुनि को गुरुभक्त तथा सुदृढ़ चारित्र के धारण करनेवाले

समझकर कोई जिनधर्म की अनुरागिणी तथा शुद्ध हृदय की धारक वनदेवी ने वहाँ आकर और उसी समय अपना रूप बदलकर एक ही हाथ से वृक्ष के नीचे धरी हुई, उत्तम-उत्तम अन्न से भरी हुई घी तथा शर्करादि से सुशोभित थाली मुनि के लिये दिखलाई।

चन्द्रगुप्ति मुनि इस आश्चर्य को अटवी में देखकर मन में विचारने लगे कि भोजन भले ही तैयार क्यों न हो? परन्तु दाता के बिना तो लेना योग्य नहीं है। ऐसा कहकर वहाँ से चल दिये और गुरु के पास जाकर उन्हें नमस्कार किया तथा वन में जो कुछ देखा था, उसे ज्यों का त्यों गुरु से कह किया।

उस समय भद्रबाहुस्वामी ने अपने शिष्य की प्रशंसा की तथा बोले—वत्स! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया। क्योंकि जब दाता प्रतिग्रहादि विधि से आहार दे, तभी हम लोगों को लेना चाहिए।

दूसरे दिन फिर चन्द्रगुप्ति मुनि स्वामी को नमस्कार कर आहार के लिए दूसरे वृक्षों में गये। परन्तु वहाँ उन्होंने केवल भोजनपात्र देखा। उसी समय वहाँ से लौटकर गुरु के पास गये और प्रणाम कर बीते हुए वृत्तान्त को कह सुनाया। गुरु ने भी प्रशंसा कर कहा—भव्य! तुमने यह बहुत ही अच्छा किया क्योंकि साधुओं को अपने आप दूसरों का अन्न ग्रहण करना योग्य नहीं है।

इसी तरह तीसरे दिन भी गुरु के चरणपंकज को नमस्कार कर चन्द्रगुप्ति मुनि आहार के लिये गये। परन्तु उस दिन भी केवल एक स्त्री को देखकर अपने आहार की योग्यता न समझकर शीघ्र ही लौट आये। गुरु के पास आकर और उन्हें नमस्कार कर

देखे हुए वृतान्त को कह सुनाया, चन्द्रगुप्ति के वचन सुनकर भद्रबाहु ने उनकी प्रशंसा कर कहा—वत्स! जैसा शास्त्रों में कहा, वैसा ही तुमने आचरण किया, क्योंकि जहाँ केवल एक ही स्त्री हो, वहाँ साधुओं को जीमना योग्य नहीं है।

फिर चौथे दिन गुरु को प्रणाम कर आहार के लिये जब चन्द्रगुप्ति मुनि घूमने लगे, तब वनदेवी ने उन्हें निश्चलव्रत के धारण करनेवाले तथा पवित्र-हृदय समझकर उसी समय वन में गृहस्थजनों से पूर्ण नगर रचा। मुनिराज ने भी मनुष्यों से पूर्ण नगर देखकर उसमें प्रवेश किया और वहाँ गृहस्थों से पद-पद में नमस्कार किये हुए श्रावकों के द्वारा यथाविधि दिया हुआ मनोहर आहार ग्रहण किया।

चन्द्रगुप्ति मुनिराज पारणा करके अपने स्थान पर गये और गुरु को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया। उस समय स्वामी ने पूछा वत्स! अन्तराय रहित पारणा तो हुआ? चन्द्रगुप्ति मुनि बोले—मैंने जाते समय पास में एक नगर देखा था। नाथ! वहीं अन्तराय रहित आहार किया है। गुरु ने उनकी प्रशंसा कर कहा तुमने ठीक शास्त्रानुसार किया।

विचारशील तथा विनय गुण के धारक चन्द्रगुप्ति मुनि निरन्तर उसी नगर में आहार करते हुए गुरु के चरण कमलों की सेवा करने लगे।

भद्रबाहु मुनिराज ने सप्तमय रहित होकर क्षुधा, पिपासा सम्बन्धी उत्कट उपद्रव को जीता और चार प्रकार आराधनाओं का शास्त्रानुसार आराधन तथा शुद्धोपयोग स्वीकार कर निरभिलाषी

ही समाधिपूर्वक रोग के आलयभूत शरीर का परित्याग किया। और देव-देवांगनाओं के द्वारा नमस्कार करने के योग्य स्वर्ग में आकर देव हुए।

सुन्दर चारित्ररूप भूषण से शोभित चन्द्रगुप्ति मुनिराज वहीं पर श्रीगुरु के चरणकमलों को लिखकर निरन्तर उनकी सेवा करने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि—गुरुभक्ति के प्रसाद से वैभव, विनय, विद्या, विवेक, यश तथा बुद्धि प्रभृति सभी उत्तम-उत्तम गुण प्राप्त होते हैं तथा इसी गुरुभक्ति के प्रसाद से बड़े भारी अरण्य में नगर बस सकता है और अपने मनोभिलाषित वस्तु की कल्पवृक्ष के समान उपलब्धि होती है। दान, तप, ध्यान, क्षमा, इन्द्रियजय आदि सब उत्तम क्रियायें गुरुसेवा के बिना निष्फल समझी जाती हैं। ऐसा समझकर इसलोक तथा परलोक में जो सुख की इच्छा करनेवाले भव्य पुरुष हैं, उन्हें अभीष्ट फल की देनेवाले गुरुओं की सेवा निरन्तर करते रहना चाहिए।

★ ★ ★

उधर अवन्ती में रामल्य तथा स्थूलभद्रादि मुनि जो भद्रबाहु आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन कर ठहरे हुए थे, उनका जो-जो वृत्तान्त हुआ है, उसे कहते हैं। भद्रबाहु मुनिराज के दक्षिण की ओर चले जाने पर सारे अवन्ती देश में अत्यन्त दुःख का देनेवाला तथा छठे काल के समान दारूण दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय कुबेरमित्रादि दयालु लोगों ने दीन-हीन दरिद्री तथा दुःखी पुरुषों के लिये कुबेर के समान अनिवार्य दान देना आरम्भ किया। परन्तु दूसरे देशों से दुर्भिक्ष के पड़ने से लोग अत्यन्त दुःखी हुए और सुभिक्ष समझकर उज्जयिनी में आये। और क्षुधादि की पीड़ा

से क्षीण शरीर तथा दीन दु:खी निर्लज्ज होकर घूमने लगे। कितने अस्थिमात्र अवशिष्ट शरीर के हो जाने से क्षुत्पिपासादि से पीड़ित होकर मरने लगे, कितने रोग से मरने लगे, कितने शरीर पर सूजन चढ़ आने से मरने लगे, कितने अपने बाल-बच्चों को इधर-उधर फेंकने लगे, कितने ही मुर्दों का माँस खाने लगे। हाय! एक-एक ग्रास के लिये माता पुत्र को मारने लगी, अब सुना कि कहीं दान दिया जा रहा है तो उस समय दौड़ते हुए कितने बेचारे तो आगे गिर पड़ते थे, कितने पृथ्वी पर पड़े हुए दूसरों के द्वारा पीड़ा दिये जाते थे, कितने रोते थे। हाँ! जिधर देखो उधर ही सारे नगर में, मार्ग में, गलियों में, अधिक क्या पद-पद में रंक लोग व्याप्त हो रहे थे। कितने बेचारे श्वास ले रहे थे, कितने अतिमन्ददशा को पहुँच चुके थे। उस समय यह मालूम होता था कि उज्जयिनी ही रंकमयी हो रही है।

उस समय जब रामल्यादि मुनि आहार लेकर वन में गये, उस समय एक मुनि पीछे रह गये थे। उन्हें उदर भरे हुए देखकर बहुत लोग इकट्ठे हो गये और निर्दय तथा क्रूरचित्त होकर उनके उदर को चीर डाला और उसमें से अन्न निकालकर उसी समय खा गये। जब नगर के लोगों ने इस घोर तथा अत्यन्त भीषण उपद्रव के समाचार सुने तो सारा नगर उसी समय हाहाकार से पूर्ण हो गया। दु:खरूप दावानल से मलीन हुए, सब श्रावक लोग मिले और व्याकुल मन होकर मुनि संघ के पास आये। यति लोगों से विराजमान गुरु को नमस्कार कर प्रार्थना करने लगे— स्वामी! यह काल अत्यन्त भीषण है अथवा यों कहिये कि यह दूसरा यम आया है। इसलिए अनुग्रह कर हम लोगों के वचनों

को स्वीकार करें और वन को छोड़कर समस्त मुनि लोग पुर के बीच में रहें तो अच्छा हो, जिससे हम लोगों के चित्त में सन्तोष होगा और साधुओं की भी रक्षा होगी। क्योंकि शुद्ध ज्ञान के धारक आप लोगों के लिये तो जैसा वन है, वैसा ही नगर है।

श्रावक लोगों की प्रार्थना से साधुओं ने भी उनके वचनों को स्वीकार किया। श्रावक लोग भी उसी समय समस्त संघ को उत्सवपूर्वक नगर में लिवा लाये।

जाति के अनुसार वे सब साधु पृथक्-पृथक् स्थान में ठहराये गये। वे साधु भी संयमपूर्वक वहीं पर ठहरे। इसी तरह प्रति वर्ष मालव देश में दु:ख देनेवाला दुर्भिक्ष पड़ने लगा और जब मुनि लोग आहार के लिए जाते तो उसी समय उनके पीछे-पीछे रंक लोग हो जाते थे। और देवो! देवो!! ऐसा करुणामय वचन बोलने लगते थे। उन लोगों की रुकावट से साधु आहार लेने तक नहीं जाने पाते थे। जब कितने लोग क्रोधित होकर लकड़ी आदि से उन क्षीण शरीर के धारक रंक लोगों को मारते थे, उस समय दीन लोग दु:खित मन होकर विलाप करने लगते थे, रोने लगते थे। दयालु मुनिराज ऐसे लोगों को तथा गृह के द्वार को बन्द देखकर अपने लिये अन्तराय समझ अपने स्थान पर लौट आते थे। उस समय श्रावक लोग भक्ति भार से अत्यन्त व्याकुल होकर गुरु के पास गये और नमस्कार कर विनयपूर्वक प्रार्थना करने लगे—

नाथ! क्या किया जाये? सारी पृथ्वी दीन लोगों से पूर्ण हो रही है और उन्हीं के भय से कोई क्षणमात्र घर के किवाड़ नहीं खोलते हैं। इसी कारण हम लोग दिन में भोजन नहीं बना सकते,

रात्रि में भोजन बनता है। यह काल महा भयंकर है, धर्म का नाश करनेवाला है और असह्य है। इसलिए आप लोग रात्रि के समय हमारे गृहों से पात्रों में अपने स्थान पर आहार ले जावें और रंक लोगों से भयरहित होकर दिन निकलने बाद वहीं पर आहार करें। सुख की कारण हम लोगों की विज्ञप्ति स्वीकार करें।

श्रावक लोगों के वचन सुनकर साधु लोग भी उन्हें कहने लगे—जब तक अच्छा काल आवेगा, तब तक यही किया जायेगा। ऐसा कहकर मार्ग से परिभ्रष्ट हुए उन कुमार्गगामी साधु लोगों ने तुम्बी के पात्र स्वीकार किये। और भिक्षुक तथा कुत्ते आदि के भय से हाथ में लकड़ी लेकर गृहस्थों के घर से अपने स्थान पर आहार लाने लगे तथा गृह के द्वारों को बन्द कर गवाक्ष के उजाले से परस्पर में आहार देने लगे। वे कुपथगामी साधु इसी तरह निरन्तर आहार लाकर अपना उदर पूर्ण करने लगे।

एक समय कोई क्षीण शरीर का धारक एक साधु आहार के लिये पात्रों को हाथ में लेकर रात्रि के समय गृह से निकला और यशोभद्र सेठ के सुन्दर मकान में प्रविष्ठ हुआ। उस समय सेठ की धनश्री नाम की भार्या गर्भवती थी। रात्रि के समय लकड़ी और पात्रादि से युक्त साधु के भयंकर रूप को देखकर वह समझी कि यह कोई राक्षस है। इसी भ्रम से उसके हृदय में बहुत भय हुआ और उसी भय से उनका गर्भपात हो गया। मुनि भी उसी समय घर से लौट गये और वहाँ हाहाकार मच गया। फिर गृहस्थ लोग मुनियों के पास जाकर कहने लगे—विभो! यह काल तो अब व्यतीत हुआ, कृपया हमारे वचनों पर ध्यान दें।

यह विषम रूप लोगों के भय का कारक है। इसलिए कन्धे पर कम्बल धारण करें और रात्रि में भोजन लाकर दिन में किया करें तो अच्छा हो। जब तक काल अच्छा न आवें, तब तक इसी तरह कीजिए और जब काल अच्छा हो जाए, देश में सुभिक्ष होने लगे, तब तपश्चरण करिये। उस समय समस्त साधुओं ने श्रावकों के वचनों को स्वीकार किया। इसी तरह वे साधु धीरे-धीरे शिथिल होकर व्रतादि में दोष लगाने लगे। ग्रन्थकार कहते हैं यह बात ठीक है कि कुमार्गगामी लोग क्या-क्या अकार्य नहीं करते हैं ?

★ ★ ★

इस प्रकार अत्यन्त दु:खपूर्वक जब बारह वर्ष बीत चुके, अच्छी वर्षा होने लगी, लोग सुखी होने लगे, तथा देश में सुभिक्ष होने लगा तो विशाखाचार्यर्च सब मुनियों को साथ लेकर दक्षिण देश से उत्तर देश की ओर आये। और जहाँ श्री भद्रबाहु आचार्य ने समाधि ली थी, वहीं आकर ठहरे तथा विनयपूर्वक श्री भद्रबाहु गुरु के पदपंकज को प्रणाम किया। पश्चात् श्रीचन्द्रगुप्ति मुनिराज ने विशाखाचार्य को प्रणाम किया। उस समय विशाखाचार्य ने मन में विचारा कि श्रावक के बिना ये यहाँ कैसे रहे होंगे ? इसी विचार से प्रति वन्दना भी न की। उस जगह श्रावकों का अभाव समझकर उस दिन सब मुनियों ने उपवास किया। तब चन्द्रगुप्ति मुनिराज बोले—भगवन! उत्तम-उत्तम लोगों से परिपूर्ण बड़ा भारी यहाँ एक नगर है। उसमें श्रावक लोग भी निवास करते हैं। वहाँ आप जाकर आहार करिये। चन्द्रगुप्ति मुनि के वचनों से सब साधुओं को आश्चर्य हुआ और फिर वे भी वहीं पारणा के लिये

गये। नगर में पद-पद में श्रावक लोगों के द्वारा नमस्कार किये। नगर में जाकर वे मुनि विधिपूर्वक आहार कर जब अपने स्थान पर आये, उस समय नगर में एक ब्रह्मचारी अपना कमण्डल भूल आया था, परन्तु जब वह फिर उसे लेने को गया तो वहाँ पर नगर न देखा, किन्तु किसी वृक्ष की डाली पर कमण्डल टंगा हुआ उसे दीख पड़ा, उसे लेकर ब्रह्मचारी गुरु के पास आया और वह आश्चर्यजनक समाचार ज्यों का त्यों कह सुनाया। विशाखाचार्य भी इस वृत्तान्त को सुनकर मन में विचारने लगे—

अहो! यह चन्द्रगुप्ति मुनि शुद्ध चारित्र का धारक है। मैं तो निश्चय से यही समझा हूँ कि इसी के पुण्यप्रताप से देवता लोगों ने यह नगर रचा था। इस प्रकार शुद्ध चारित्र के धारक चन्द्रगुप्ति मुनि की प्रशंसा कर उन्हें वहाँ का सब वृत्तान्त कह सुनाया और फिर प्रति वन्दना कर कहा कि देवता लोगों के द्वारा कल्पना किया हुआ आहार साधुओं को लेना उचित नहीं है, इसलिए सबको प्रायश्चित लेना चाहिए। विशाखाचार्य के कहे अनुसार चन्द्रगुप्ति मुनिराज ने प्रायश्चित लिया और उसी समय सारे संघ ने भी स्वामी से प्रायश्चित लिया।

इसके बाद पापरूपी मेघों के नाश करने के लिये वायु के समान, उत्तम-उत्तम चारित्र के धारक साधुओं में प्रधान, सूर्य के समान तेजस्वी तथा विशुद्ध ज्ञान के अद्वितीय स्थान श्री विशाखाचार्य, साधुओं के संघ के साथ-साथ दक्षिण देश की ओर से विहार करते हुए उज्जयिनी नगरी में आकर फल-फूलादि से समृद्ध उसके उपवन में ठहरे।

निरन्तर सिद्ध भगवान का ध्यान करनेवाले, अज्ञानरूप अन्धकार के समूह को विध्वंस करनेवाले तथा विशुद्धचारित्र के धारक श्री भद्रबाहुरूप सूर्य के लिये अपने मनोभिलषित स्वाभाविक सुख की समुपलब्धि के लिये बारम्बार अभिवन्दन करता हूँ। इस श्लोक में श्री भद्रबाहुस्वामी को सूर्य की उपमा दी है, क्योंकि सूर्य भी निरन्तर आकाश में रहता है, अन्धकार का नाश करनेवाला होता है तथा निष्कलंक होता है।

इति श्री रत्ननन्दि अपरनाम रत्नकीर्ति आचार्यविरचित श्री भद्रबाहु चरित्र के द्वादश वर्ष पर्यन्त दुर्भिक्ष तथा विशाखाचार्य के दक्षिण देश में आगमन के वर्णनवाला तृतीय अधिकार समाप्त हुआ॥३॥

चतुर्थ परिच्छेद

जब स्थूलाचार्य ने सुना कि श्री विशाखाचार्य समस्त संघ सहित दक्षिण देश से मालव देश की ओर आये हुए हैं तो उनके देखने के लिये अपने शिष्यों को भेजा। शिष्य ने भी स्वामी के पास जाकर भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना की। परन्तु श्री विशाखाचार्य ने उन लोगों के साथ प्रति-वन्दना न की और पूछा कि मेरे न होते हुए यह कौन दर्शन तुम लोगों ने ग्रहण किया है?

शिष्य लोग श्री विशाखाचार्य के वचनों को सुनकर लज्जित हुए और उसी समय जाकर सब वृत्तान्त अपने गुरु से कह सुनाया। उस समय रामल्य, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य अपने-अपने संघ के साधुओं को बुलाकर उनसे कहने लगे कि —हम लोगों को अब क्या करना चाहिए? तथा ऐसी कौन स्थिति है जिससे हमें सुख होगा? उस समय बेचारे वृद्ध स्थूलाचार्य ने कहा—साधुओं! मनोभिलषित सुख देनेवाले मेरे कहने पर जरा ध्यान दो।

श्री जिनभगवान के कहे हुए मार्ग का आश्रय ग्रहण कर शीघ्र ही इस बुरे मार्ग का परित्याग करो और मोक्ष की प्राप्ति के लिये छेदोपस्थापना लेओ। स्थूलाचार्य के कहे हुए हितकर वचन भी उन लोगों को अनुरागजनक न हुए। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह ठीक है कि—जो लोग पित्तज्वर ग्रसित होते हैं, उन्हें शर्करा भी कड़वी लगती है। उस समय और-और मुनि लोग यौवन के घमण्ड में आकर बोले—महाराज! तुमने कहा तो है परन्तु ऐसा कहना तुम्हें योग्य नहीं। क्योंकि इस विषम पंचमकाल में क्षुधा पिपासादि दुस्सह बाईस परीषहों को तथा अन्तरायादि को कौन

सहेगा? मालूम होता है कि अब आप वृद्ध हो गये, इसी से अच्छे-बुरे को नहीं जानते हैं। भला यह तो कहो कि ऐसे सुख-साध्य मार्ग को छोड़कर कौन ऐसा होगा जो कठिन मार्ग का आचरण करेगा? फिर भी विचारे स्थूलाचार्य ने कहा—तुम यह निश्चय रखो कि यह मत उत्तम नहीं है। इस समय तो किंम्पाकफल के समान मनोहर मालूम देता है परन्तु आगे अत्यन्त ही दुःख का देनेवाला होगा। जो लोग मूलमार्ग को छोड़कर खोटे मार्ग की कल्पना करते हैं, वे संसाररूप वन में भ्रमण करते हैं। जैसे मारीचादि ने कुमार्ग चलाकर चिरकाल पर्यन्त संसार में पर्यटन किया। यह मार्ग कभी मुक्तिप्रद नहीं हो सकता किन्तु उदर भरने का साधन है।

जब स्थूलाचार्य के ऐसे वचन सुने तो कितने ही भव्य साधुओं ने तो उसी समय मूल मार्ग (दिगम्बर मार्ग) स्वीकार कर लिया और कितने ही मुनि महाक्रोधित हुए। यह ठीक है कि शीतल जल से भी क्या गरम तेल प्रज्वलित नहीं होता? किन्तु अवश्य होता ही है।

तब वे क्रोधी मुनि बोले—यह बुड्ढा है। क्या जानता है जो ऐसा बिना विचारे बोल रहा है। अथवा यों कहिये कि वृद्धावस्था में बुद्धि के भ्रम से विक्षिप्त हो गया है। और जब तक वह जीता रहेगा, तब तक हम लोगों को सुख कहाँ? ऐसा विचारकर पापात्माओं ने स्थूलाचार्य के मारने का संकल्प किया और फिर अत्यन्त कुपित होकर उन दुष्ट तथा मूर्खों ने निर्विचार से बेचारे स्थूलाचार्य को डण्डों-डण्डों से मारकर वहीं पर एक गहरे गड्ढे में डाल दिया।

नीतिकार कहते कि यह ठीक हैं—खोटे शिष्यों को दी हुई उत्तम शिक्षा भी दुष्टों के साथ मित्रता की तरह दु:ख देनेवाली होती है।

उस समय स्थूलाचार्य आर्तध्यान से मरणकर व्यंतरदेव हुआ और अवधिज्ञान से अपने पूर्वजन्म वृत्तान्त को जानकर उन मुनि धर्माभिमानियों के ऊपर, 'जैसा उपद्रव पहले तुमने मेरे ऊपर किया था, वैसा ही उपद्रव मैं भी अब तुम्हारे ऊपर करूँगा', ऐसा कहते हुए धूलि, पत्थर तथा अग्नि आदि की वृष्टि से घोर उपद्रव करने लगा।

तब साधु लोग अत्यन्त भयभीत होकर व्यन्तर से प्रार्थना करने लगे—देव! हमारा अपराध क्षमा करो। यह हम लोगों ने मूर्खता से किया था। देव बोला—यही यदि तुम्हें इच्छित है तो जब तुम लोग इस कुमार्ग को छोड़कर यथार्थ मार्ग को ग्रहण करोगे, तब ही तुम्हें उपद्रवरहित करूँगा।

देव के वचन सुनकर साधुओं ने कहा—तुमने कहा सो तो ठीक है परन्तु मूलमार्ग (निर्ग्रन्थ मार्ग) को हम लोग धारण नहीं कर सकते। क्योंकि वह अत्यन्त कठिन है, किन्तु आप हमारे गुरु हैं, इसलिए भक्तिपूर्वक आपकी निरन्तर पूजन करते रहेंगे।

इस प्रकार अत्यन्त विनय से उस क्रोधित व्यन्तर को शान्त करके गुरु की हड्डियाँ लाये और उसमें गुरु की कल्पना की, आज भी इन लोग में हड्डियाँ पूजी जाती हैं तथा नमस्कार किया जाता है और उनमें क्षपण (मुनि) की हड्डी की कल्पना होने से (खमणादिहडी) व्रत भी उसी दिन से चल पड़ा है। इसके बाद

उसकी शान्ति के ही लिये आठ अंगुल लम्बी तथा चार अंगुल चौड़ी एक लकड़ी की पट्टी बनाकर यह वही गुरु है, ऐसी कल्पना कर उसे पूजने लगे।

इस प्रकार यथायोग्य उसकी स्थापना करके भयभीत अर्द्धफालक लोगों ने जब पूजना आरम्भ किया, तब उसने उपद्रव करना बन्द किया। फिर धीरे-धीरे इसी तरह पुजाता हुआ, वह देव पर्युपासन नाम के कुलदेवता कहलाने लगा। सो आज भी जल गन्धादि द्रव्यों से पूजा जाता है। वही आश्चर्यजनक अर्द्धफालक मत कलियुग का बल पाकर आज सब लोगों में फैल गया। जैसे जल में तैल के बिन्दु फैल जाते हैं।

यह अर्द्धफालक दर्शन जिस भगवान के वास्तविक सूत्र की विपरीत कल्पना करके बेचारे मूर्ख लोगों को खोटे मार्ग में फंसाना है। जिस प्रकार इन इन्द्रियों के वशवर्ती लोगों ने स्वयं ही व्रत धारण किया, उसी तरह जिनभगवान के सूत्र की भी अपनी बुद्धि के अनुसार मिथ्या कल्पना की।

★ ★ ★

इसी तरह बहुत काल बीत जाने पर उज्जयिनी में चन्द्रकीर्ति नाम का राजा हुआ, उसके लक्ष्मी की समान चन्द्रश्री नाम की पट्टरानी तथा उन दोनों में रूपलावण्यादि गुणों से सुशोभित चन्द्रलेखा नाम की उत्तम एक कन्या हुई। उसने उन कुपथगामी अर्द्धफलाक साधुओं के पास शास्त्र पढ़ा।

सौराष्ट्र (सोंरठ) देश में उत्तम वलभीपुर नामक पुर था। उसका—अपने तेज से समस्त शत्रुओं को संतापित करनेवाला

तथा नीति शास्त्र का जाननेवाला प्रजापाल नाम का राजा था। उसके सुन्दर-सुन्दर लक्षणों से सुशोभित प्रजावती नाम की रानी थी। उन दोनों में सुन्दर गुणों का धारक, रूप सौभाग्य लावण्यादि से युक्त तथा ज्ञान विज्ञान का जाननेवाला लोकपाल नाम का पुत्र था।

प्रजापाल ने अपने पुत्र के लिये गुणों से उज्ज्वल चन्द्रकीर्ति की नवयौवनवती चन्द्रलेखा पुत्री के लिये प्रार्थना की। लोकपाल भी चन्द्रलेखा के साथ विवाह करके उसके साथ नाना प्रकार के उपभोगों को भोगने लगा। जैसे शचि के साथ इन्द्र अनेक प्रकार के भोगों को भोगता रहता है, पश्चात् धीरे-धीरे शुभोदय से अपने पिता के विशाल राज्य को पाकर चन्द्रलेखा को अपनी पट्टरानी बनाई। और फिर समस्त राजा लोगों को अपने शासन की आधीनता में रखकर रानी के साथ उपभोग करता हुआ राज्य का निर्भय पालन करने लगा।

किसी समय जब चन्द्रलेखा ने स्वामी को प्रसन्नचित्त देखा तो प्रार्थना की कि—नाथ! मेरे गुरु उज्जयिनी पुरी में है। उन जगत्पूज्य गुरुओं को मेरे कहने से आप अवश्य बुलावें। राजा ने इस भय से कहीं यह असन्तुष्ट न हो जाये, इसलिए उसके वचनों को स्वीकार किया और उनके लिवाने के लिये अपने लोगों को भेजा। वहाँ जाकर उन लोगों ने गुरुओं को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और बलभीपुर चलने के लिये प्रार्थना की। उनकी बार-बार प्रार्थना से तथा विनय से जिनचन्द्रादि अर्द्धफालक वलभीपुर में आये। जब राजा ने उन लोगों का आगमन सुना तो बहुत आनन्दित होकर सामत, मन्त्री, पुरवासी तथा परिवार के लोगों के साथ-साथ गीत नृत्य संगीतादि के उत्तम शब्द से दशों दिशाओं

को परिपूर्ण करता हुआ उनकी वन्दना के लिए नगर से निकला और दूर ही से साधुओं को देखकर मन विचारने लगा—अहो! लोक में अपनी विटम्बना करनेवाला तथा निन्दनीय यह कौन मत प्रचलित हुआ है? नग्न होकर भी वस्त्रयुक्त तो कोई साधु नहीं देखे जाते हैं। इसलिए इनके पास जाना योग्य नहीं है। ऐसे नूतन मत का अविष्कार देखकर राजा शीघ्र ही उस स्थान से लौटकर अपने मकान पर आ गया। तब रानी ने राजा के हृदय का भाव समझकर गुरुओं की भक्ति से उनके लिये वस्त्र भेजे। साधुओं ने भी उसके कहने वस्त्रों को ग्रहण किये। उसके बाद राजा ने उन साधुओं की भक्ति पूर्वक पूजन की तथा सन्मान किया। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह बात ठीक है कि स्त्रियों के राग में अनुरक्त हुए पुरुष क्या-क्या अकार्य नहीं करते हैं?

उसी दिन से श्वेतवस्त्र के ग्रहण करने से अर्द्धफालक मत से श्वेताम्बर मत प्रसिद्ध हुआ। यह मत महाराज विक्रम नृपति के मृत्युकाल के १३६ वर्ष के बाद लोक में प्रादुर्भूत हुआ है। फिर उस मूर्ख जिनचन्द्र ने जिन प्रतिपादित आगम समूह का 'केवली भगवान कवलाहार करते हैं, स्त्रियों को तथा ससंगी मुनि लोगों को उसी भव में मोक्ष होता है और महावीर स्वामी के गर्भ का अपहरण होना'—इत्यादि प्रतिकूल रीति से वर्णन किया।

परन्तु यह कथन प्रत्यक्ष बाधित हैं, इसे ही सिद्ध करते हैं। जिसे अनन्त सुख हैं, उसके आहार की कल्पना का संभव मानना ठीक नहीं है। यदि कहोगे कि केवली के कवलाहार हैं तो उसके अनन्त सुख का व्याघात होगा। क्योंकि आहार तो क्षुधा के लगने पर ही किया जाता है और केवली भगवान के तो क्षुधा का

अभाव रहता है। क्षुधा के अभाव में आहार की भी कोई आवश्यकता नहीं दिखती। यह है भी तो ठीक—जैसे मूल का नाश हो जाने पर वृक्ष किसी तरह नहीं बढ़ सकता, उसी क्षुधा का अभाव हो जाने से आहार करना भी नहीं माना जा सकता। यदि फिर भी आहार की कल्पना की जाये तो जिन भगवान के शरीर में सदोषता आती हैं।

ये बुभुक्षा आदि तो वेदनीय कर्म के सद्भाव में होती है और जिन भगवान के मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से वेदनीय कर्म अपना कार्य करने में शक्तिविहीन (असमर्थ) हैं। जैसे जल रस्सी बन्धनादि कार्य के उपयोग में नहीं आ सकती। इसलिए केवली भगवान के दोषप्रद कवल-आहार की कल्पना करना अनुचित है और मोह-मूल ही वेदनीय कर्म क्षुधादि वेदना का देनेवाला होता है। जिनभगवान के मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से वेदनीय कर्म अपना कार्य नहीं कर सकता। जैसे मूल रहित वृक्ष पर फल पुष्पादि नहीं हो सकते। भोजन करने की इच्छा को बुभुक्षा कहते हैं और वह मोह से होती है और मोह का जिन-भगवान के जब नाश हो गया है तो क्योंकर आहार की कल्पना का संभव माना जाये?

उसे ही स्फुट करते हैं—

जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों में विरक्त हैं, तीन गुप्ति के पालन करनेवाले हैं, ऐसे साधुओं के कर्मों के नाश करनेवाले ध्यान की सिद्धि होती है, ध्यान से शुद्ध शान्तरस का समुद्भव होता है, शान्तरस से आत्मज्ञान होता है, फिर उसी आत्मावबोध से मोहनीय

कर्म का नाश करके साधु लोग क्षीणमोही होकर और शुक्ल-ध्यानरूप खड्ग के द्वारा चार घातियाकर्मों का नाश करके जब केवली होते हैं तो क्षुधा-तृषादि अठारह दोषों से रहित अनन्त सुखरूप पीयूष के पान से सन्तुष्ट तथा लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान के धारक ऐसे केवली भगवान आहार क्यों कर सकते हैं ? यदि ये क्षुधादि दोष जिन भगवान में माने जावें तो दोषरहित शुद्धस्वरूप जिनदेव फिर वीतराग कैसे कहे जा सकेंगे ?

कदाचित् कहो कि—जिस तरह भोजन करते हुए उदासीन साधुओं के वीतरागता बनी रहती है तो केवली भगवान के क्यों नहीं रहेगी ?

परन्तु यह कहना बुद्धिमानों का नहीं है, किन्तु विक्षिप्त पुरुषों का केवल प्रलाप है। मुनियों के आहार करने से वीतरागता का अभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें केवल उपचार से वीतरागता है। (तात्पर्य यह है कि वे पूर्ण वीतरागी नहीं हैं। अभी संज्वलन कषाय चौकड़ी के सद्भाव में उनकी भूमिका में रागांश शेष हैं और उसी रागांश के फलस्वरूप आहारादि प्रवृत्ति उदासीनता पूर्वक दृष्टिगोचर होती है।)

कदाचित् कहो कि—आहार के बिना शरीर की स्थिति कहीं पर नहीं देखी जाती हैं, इसीलिए केवली भगवान के आहार की कल्पना अनुचित नहीं है।

यह कथन भी अबाधित नहीं है। वही स्पष्ट किया जाता है—(१) नोकर्म आहार (२) कर्म आहार (३) कवलाहार (४) लेप आहार (५) उजाहार (६) मानस आहार—ऐसे आहार

के छह विकल्प हैं। तो अब यह कहो कि—शरीरधारियों के शरीर की स्थिति का कारण कवलाहार ही हैं या और से भी शरीर की स्थिति रह सकती है ? हम लोग तो कर्म-नोकर्म आहार के ग्रहण से केवली भगवान के शरीर की स्थिति मानते हैं। कदाचित् कहो कि शरीर की स्थिति कवलाहार ही से है तो भी व्यभिचार आता है। क्योंकि एकेन्द्री जीवों के लेप आहार का सम्भव है, देवताओं के मानसाहार होता है और पक्षियों के उजाआहार होता है। यही बात दूसरे ग्रन्थों में लिखी हैं—

'केवली भगवान के नोकर्म आहार होता है, नारकियों के कर्म आहार होता है, देवताओं के मानस आहार होता है, पक्षियों के उजा आहार होता है तथा एकेन्द्रियों के लेप आहार होता है।'

इसलिए स्वप्न में भी बुद्धिमानों को केवली भगवान के लिये कवलाहार की कल्पना करना योग्य नहीं है। अथवा दूसरी यह भी बात है कि उनके आहार की भी कल्पना केवल वेदनीय कर्म के सद्भाव होने से मानी जाती है।

अस्तु, वह रहै, परन्तु यह तो कहो कि—जब केवली भगवान सर्व लोकालोक के देखने-जाननेवलो हैं तो संसार में नाना प्रकार के जीवों का वध देखते हुए कैसे भोजन कर सकते हैं ? अथवा जिन भगवान भी अल्पज्ञानी लोगों की तरह शुद्ध तथा अशुद्ध भोजन करेंगे क्या ? और यदि अन्तरायों के होते हुए भी भोजन करेंगे तो केवली भगवान के श्रावकों से भी अत्यन्त निन्दनीय हीनता ठहरेगी। उनके आहार की भी कल्पना केवल वेदनीय कर्म के सद्भाव होने से मानी जाती है।

अरे! माँस रक्त आदि अपवित्र वस्तुओं को देखते हुए भी यदि केवली भगवान आहार करें तो फिर यों कहिये कि जिन भगवान ने अपने सर्वज्ञपने को जलांजलि दे दी। तो भी केवली भगवान कवलाहार करते हैं, ऐसा जो लोग कहते हैं तो समझिये कि वे निर्लज्ज हैं, खोटे मतरूपी मदिरा के मद में चकचूर हो रहे हैं।

इस प्रकार केवली भगवान के आहार का प्रतिषेध किया गया। उसी तरह जो लोग स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष प्राप्त होना कहते हैं, समझिये कि वे लोग दुराग्रहरूप पिशाच के वशवर्ती है। अथवा यों कहिये कि वे विक्षिप्त हो गये हैं। यदि स्त्रियाँ अत्यन्त घोर तपश्चरण भी करें तो भी उस जन्म में उन्हें मोक्ष नहीं हो सकता।

कदाचित् कहो कि निश्चयनय से स्त्री और पुरुषों की आत्मा में कुछ भी विशेषता न होने से उसी भव में स्त्रियों को मोक्ष की समुपलब्धि क्यों नहीं हो सकती? परन्तु यदि केवल तुम्हारे कथनानुसार सब जीवों के सामान्य होने ही से स्त्रियों को मोक्ष की प्राप्ति मान ली जावे तो चाण्डाली तथा धीवरी आदि की स्त्रियाँ क्योंकर मोक्ष में नहीं जाती? क्योंकि वे भी तो स्त्रियाँ ही हैं न? तथा स्त्रियों के योनिस्थान में प्रसवादि से निरन्तर अशुद्धता बनी रहती है और महीने-महीने में निंद्यनीय रजोधर्म होता रहता है। स्तन, कुक्षि तथा योनि आदि स्थानों में शरीर स्वभाव से सूक्ष्म अपर्याप्त मनुष्य उत्पन्न होते रहते हें।

स्त्रियों की प्रकृति (स्वभाव) बुरी होती हैं। लिंग अत्यन्त ही निन्दित होता है, उनके साक्षात्संयम (महाव्रत) नहीं हो सकता

तो मोक्ष तो बहुत दूर है, दूसरे स्त्री-लिंग तथा स्तनों से युक्त स्त्री रूप में बनी हुई तीर्थंकरों की प्रतिमायें कहीं हो तो कहो! इन दोषों से स्त्रियों को मोक्ष की सम्भावना नहीं मानी जा सकती।

देखो! स्त्रियों को चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, मण्डलेश्वर आदि पद तथा श्रुतज्ञान, मन:पर्ययज्ञान जब नहीं होते हैं, और उसी तरह गणधर, आचार्य, उपाध्याय आदि पद भी नहीं होते हैं तो उन्हीं के त्रैलोक्य महनीय सर्वज्ञपने का कैसे सद्भाव माना जाये? इसलिए समझो कि—सुकुल में पैदा हुआ, कुशल, संयमी, परिग्रहरहित तथा इन्द्रियों का जीतनेवाला पुरुष ही मुक्ति कान्ता के साथ परिणय कर सकता है।

इस प्रकार स्त्री-मुक्ति का निराकरण किया गया।

जो मूर्ख लोग निर्ग्रन्थ मार्ग के बिना परिग्रह के सद्भाव में भी मनुष्यों को मोक्ष क प्राप्त होना बताते हैं, उनका कहना प्रमाणभूत नहीं हो सकता। यदि परिग्रह के होने पर मोक्ष का होना ठीक मान लिया जावे तो कहो कि भगवान आदि जिनेन्द्र ने अपना प्रशस्त राज्य किसलिए छोड़ा? उत्तमकुल में समुद्भव, महाविद्वान तथा वज्रवृषभनाराचसंहनन का धारक पुरुष भी यदि परिग्रही हो तो वह भी मोक्ष में नहीं जा सकता तो औरों की क्या कहे? इसलिए शिव-सुखाभिलाषी साधुओं को वस्त्र, कम्बल, दण्ड तथा पात्रादि उपकरण कभी नहीं ग्रहण करने चाहिए। क्योंकि वस्त्रों के ग्रहण करने से उनमें लीखें तथा जूं आदि जीवों की उत्पत्ति होती रहती है और उनके धरने-उठाने तथा धोने में जीवों की हिंसा होती, दूसरे वस्त्र के लिये प्रार्थना करने से दीनता आती

है और वस्त्र प्राप्त होने पर उसमें मोह हो जाता है, मोह से संयम का नाश होता है, तो उसमें निर्मलता होना तो दुर्लभ ही नहीं किन्तु नितान्त असम्भव है। इसलिए अन्तरंग तथा बाह्य परिग्रह के त्यागयुक्त साक्षाज्जिनलिंग ही श्लाघनीय हैं और सम्यक्त्वयुक्त जीवों के शिव-सुख का हेतु हैं।

कदाचित् यह कहो कि—जिनकल्प लिंग के बहुत कठिन तथा दु:साध्य होने से हम लोगों ने स्थविरकल्प संयम धारण किया है। परन्तु जिनकल्प तथा स्थविर कल्प का लक्षण जब तक न समझ लो, तब तक ऐसे मिथ्या वचन भी मत कहो। क्योंकि स्थविरकल्प भी तुम्हारे कथनानुसार परिग्रहसहित नहीं होता है।

अब पहले ही जिनकल्प संयम का लक्षण कहा जाता है, जिसके द्वारा मुनिराज मुक्त्यंगना के आलिंगन के सुख का उपभोग कर सकते हैं, जो सम्यक्त्वरूप रत्न से भूषित होते हैं, जिन्होंने इन्द्रियरूप अश्वों को अपने वश में कर लिये हैं, जो एकाक्षर के समान एकादशांग शास्त्र के जाननेवाले हैं, जो पाँवों में लगे हुए काँटे को तथा लोचनों में गिरी हुई रज को न तो स्वयं निकालते हैं और न दूसरों से कहते हैं कि तुम निकाल दो, निरन्तर मौन सहित रहते हैं, वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारक होते हैं, गिरि की गुहाओं में, वन में, पर्वत में तथा नदियों के किनारों में रहते हैं, वर्षाकाल में मार्ग को जीवों से पूर्ण हो जाने पर छह मासपर्यन्त आहाररहित होकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं, परिग्रहरहित होते हैं, रत्नत्रय से विभूषित होते हैं, मोक्ष के साधन में जिनके निष्ठा होती है, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान ही में निरत रहते हैं, जिनके स्थान का कोई निश्चय नहीं होता था, जो जिन भगवान के समान

विहार करनेवाले होते हैं—ऐसे साधुओं को जिनभगवान ने जिनकल्पी साधु कहा है।

और जिनलिंग के धारक होते हैं, निर्मल सम्यक्त्वरूप अमृत से जिनका हृदय क्षालित होता है, अट्ठाईस मूलगुणों के धारण करनेवलो होते हैं, ध्यान तथा अध्ययन में ही निरत रहते हैं, पंच महाव्रत के धारक होते हैं, दर्शनाचार प्रभृति पंचाचार के पालन करनेवाले होते हैं, उत्तम क्षमादि दशधर्म से विभूषित रहते हैं, जिनकी ब्रह्मचर्य व्रत में श्रद्धा होती है, बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त होते हैं, तृण में, मणि में, नगर में, वन में, मित्र में, शत्रु में, सुख तथा दु:ख में सतत् समान भाव के रखनेवाले होते हैं, मोह अभिमान तथा उन्मत्तता रहित होते हैं। धर्मोपदेश के समय तो बोलते हैं और शेष समय में सदैव मौन रहते हैं, शास्त्ररूपी अपार पारावार के पार को प्राप्त हो चुके हैं, उनमें कितने तो अवधिज्ञान के धारक होते हैं, कितने मन:पर्ययज्ञान के धारक होते हैं, अवधिज्ञान के पहले पंचसूत्र की सुन्दर पिच्छी प्रतिलेखन के (शोधन के) लिए धारण करते हैं, संघ के साथ-साथ विहार करते हैं, धर्मप्रभावना तथा उत्तम-उत्तम शिष्यों का रक्षण करते हैं, और वृद्ध-वृद्ध साधुसमूह के रक्षण तथा पोषण में सावधान रहते हैं। इसीलिए उन्हें महर्षि लोग स्थविरकल्पी कहते हैं। इस भीषण कलिकाल में हीन संहनन के होने से वे लोग स्थानीय नगर ग्रामादिक के जिनालय में रहते हैं। यद्यपि यह काल दुस्सह है, शरीर का संहनन हीन है, मन अत्यन्त चंचल है और मिथ्या मत सारे संसार में विस्तीर्ण हो गया है तो भी वे लोग संयम के पालन करने में तत्पर रहते हैं।

इसी से मोक्षाभिलाषी साधु लोग संयमियों के योग्य पवित्र तथा सावद्य (आरम्भ) रहित पुस्तकादि ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सर्व परिग्रहादिरहित स्थविरकल्प कहा जाता है और जो यह वस्त्रादि का धारण करना है, वह स्थविरकल्प नहीं है किन्तु गृहस्थ कल्प हैं। मैं तो यह समझा हूँ कि इन श्वेताम्बरियों ने जो यह गृहस्थ कल्प की कल्पना की हैं, वह मोक्ष की प्राप्ति के लिये नहीं, किन्तु इन्द्रिय सम्बन्धी विषयानुभवन करने के लिये की है।

देखो! इन लोगों की मूर्खता अथवा विवेकशून्यता! जो श्री वर्द्धमानस्वामी के गर्भ का अपहरण हुआ करते हैं। जब श्री वीरजिनेन्द्र को वृषभदत्त ब्राह्मण की दिवानंद्या नाम स्त्री के गर्भ में आये हुए तिरासी (८३) दिन बीत गये, तब इन्द्र ने भिक्षुक का कुल समझकर श्री वीरनाथ का गर्भ वहाँ से ले जाकर सिद्धार्थ राजा की कान्ता के उदर में स्थापित किया। परन्तु यह बात कैसे हो सकती है? अस्तु, हमारा कहना है कि—पहले तुम यह कहो कि इन्द्र ने पहले उस कुल को जाना था या नहीं? यदि कहोगे जाना था तो पहिले ही गर्भ का हरण क्यों न किया? यदि कहोगे नहीं जाना था तो गर्भ शोधनादि क्रियायें कैसे की होगी? यदि फिर भी कहोगे कि गर्भ शोधनादि क्रियायें ही नहीं की गई तो तुम्हीं कहो फिर तीर्थंकरों तथा और सामान्य मनुष्यों में विशेषता ही क्या रही? दूसरे, यह भी हैं कि जब द्विज के यहाँ से गर्भहरण किया गया तो उसकी नाल का तो छेद वहीं पर हो गया, फिर छिन्न नाल गर्भ दूसरी जगह कैसे बढ़ सकता है? जैसे जिस फल का बन्धन एक जगह छिन्न हो जाता है, फिर वह दूसरी जगह नहीं बढ़ सकता। किन्तु उसी समय नष्ट हो जाता है। कदाचित् कहो

कि—जैसे वल्लरी दूसरी जगह भी रोपी हुई वृद्धि को प्राप्त होती है तो गर्भ क्यों नहीं बढ़ सकता ? परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है।

क्योंकि लता तो माता के समान होती है और सुत फल के समान होता है। कदाचित् फिर भी कहो कि माता के सम्बन्ध से गर्भ दूसरी जगह रख दिया गया तो गर्भ का क्या बिगड़ा ? तो कुछ नहीं परन्तु यही दु:ख होता है कि तुम्हारे सदोष वचन बेचारे सत्पुरुषों को सन्ताप उत्पन्न करते हैं। इसी तरह से श्वेताम्बरी लोग नाना प्रकार के मिथ्या वचनों से शास्त्रों की कल्पना करते हैं और बेचारे मूर्ख लोगों को संशय में डालते हैं। इनके कुछ दिनों बाद यही मत-शांसयिक कहलाने लगा। इसी प्रकार अपने कपोल-कल्पित मार्ग में वे दुराग्रही लोग रहते हैं।

इन्हीं के भक्त जो लोकपाल तथा चित्रलेखा रानी थी, उनके सुवर्ण की तरह कान्ति की धारक तथा अपने सुन्दर रूप से देवांगनाओं को भी जीतनेवाली मनोहर लक्षणों से शोभित नृकुलदेवी नाम की बाला हुई। सो उसने उन गुरुओं के समीप अनेक शास्त्र पढ़े। और फिर क्रम-क्रम से युवा लोगों को अत्यन्त प्रिय मनोहर तरुण अवस्था को प्राप्त हुई।

धन से परिपूर्ण एक करहाटक नाम का नगर है। अनिवार्य पराक्रम का धारक भूपाल नाम का उसका राजा है। उनने उस सुन्दर शरीर की धारक नृकुलदेवी के साथ अपना विवाह किया। नृकुलदेवी भी पूर्व पुण्यकर्म के उदय से और सर्व रानियों में प्रधान पट्टरानी हुई और यह भूपाल भूपति भी उसके साथ नाना प्रकार के भोगों को भोगने लगा।

किसी दिन रानी ने सुअवसर पाकर स्वामी से प्रार्थना की कि—प्राणप्रिय! मेरे पिताजी के नगर में गुरु हैं, उन्हें धर्मप्रभावना के लिये आप भक्तिपूर्वक बुलाईये। राजा ने रानी के वचन सुनकर उसी समय अपने बुद्धिसागर मन्त्री को बुलाय और उन्हें सत्कार पूर्वक लाने के लिये उसे करहाटाक्षपुर भेजा। मन्त्री भी उनके पास गया और अत्यन्त विनयपूर्वक नमस्कार तथा बार-बार प्रार्थना कर उन्हें अपने पुर में लिवा लाया। राजा ने जब उनका आगमन सुना तो बहुत आनन्दित हुआ और बड़े भारी आनन्दपूर्वक उनकी वन्दना करने के लिये चला। परन्तु दूर से ही जब उन्हें देखे तो आश्चर्ययुक्त हो विचारने लगा—

अहो! निर्ग्रन्थतारहित यह दण्ड-पात्रादि सहित नवीन मत कौन हैं? इनके पास मेरा जाना योग्य नहीं है। ऐसा कहकर उसी समय वहाँ से अपने महल की ओर लौट गया और जाकर अपनी कान्ता से कहा—खोटे मार्ग के चलानेवाले, जिन भगवान के शासन-विरुद्ध मत के धारण करनेवलो तथा परिग्रहरूप पिशाच के वशवर्ती ये ही तुम्हारे गुरु हैं? मैं उन्हें कभी नहीं मानूँगा! वह राजा का आशय समझकर उसी समय गुरु के पास गई और विनय विनीत मस्तक से नमस्कार कर प्रार्थना करने लगी।

भगवन्! मेरे आग्रह से आप सब परिग्रह छोड़कर पहले ग्रहण की हुई देवताओं से पूजनीय तथा पवित्र निर्ग्रन्थ अवस्था ग्रहण कीजिए। उन सब श्वेताम्बर साधुओं ने रानी के वचन सुनकर उसी समय वस्त्रादि सब परिग्रह छोड़ दिया और हाथ में कमण्डल तथा पिच्छी लेकर जिन भगवान की दिगम्बरी दीक्षा अंगीकार की। फिर राजा भी उनके सन्मुख गया और अत्यन्त

भक्तिपूर्वक नमस्कार कर अपने नगर में उन्हें लिवा लाया।

उस समय राजादि के द्वारा सत्कार किये हुए तथा पूजे हुए वे साधु लोग दिगम्बर का वेश धारण कर श्वेताम्बर मत के अनुसार आचरण करने लगे।

गुरुपदेश के बिना नट के समान उपहास का कारण लिंग धारण किया। और फिर कितने दिनों बाद इन्हीं कुमार्गियों से यापनीय संघ निकला।

फिर इसी मिथ्यात्व मोह के मलिन श्वेताम्बर मत से, शुभ कार्य से पराङ्मुख कितने ही मत प्रचलित हो गये। उनमें कितने तो अहंकार के वश से, कितने अपने आप आचरण धारण करने से, कितने अपने-अपने आश्रय के भेद से तथा कितने खोटे कर्म के उदय से निकले। इसी तरह अनेक मतों का समाविर्भाव हो गया। और भी सुनो—

महाराज विक्रम की मृत्यु के १५२७ वर्ष बाद धर्म कर्म का सर्वथा नाश करनेवाला एक लूंकामत (ढूंढियामत) प्रगट हुआ, उसी की विशेष व्यवस्था इस प्रकार है—

अपनी अलौकिक विद्वता से देवताओं को भी पराजित करनेवाले गुर्जर (गुजरात) देश में अणहल नामक नगर है। उसमें प्राग्वाट (कुलम्बी) कुल में लुंका नाम का धारक एक श्वेताम्बरी हुआ है। उस दुष्टात्मा ने कुपित होकर तीव्र मिथ्यात्व के उदय से खोटे परिणामों के द्वारा लुंकामत चलाया और जिन सूर्य से प्रतिकूल होकर देवताओं से भी पूजनीय जिन प्रतिमा, उसकी पूजा तथा पवित्र दानादि सब कर्म उठा दिये।

उस मत में भी कलिकाल का बल पाकर अनेक भेद हो गये, सो ठीक है, दुष्ट लोग क्या-क्या नहीं करते हैं? अहो! देखो! मोहरूप अन्धकार से वे लोग स्वयं भी आच्छादित हुए और इन्हीं पापी लोगों ने जिन भगवान का निर्मल शासन भी कलंकित किया, परन्तु सुखाभिलाषी बुद्धिमानों को इस लूंकामत में प्रमाद नहीं करना चाहिए अर्थात् इसे ग्रहण नहीं करना चाहिए किन्तु उन्हें अपना ही मत ग्रहण करना उचित है। क्योंकि कर्दम में (कीचड़ से) लिप्त महामणिको कौन ग्रहण नहीं करता है? किन्तु सभी करते हैं। अरे! निःशक्त (व्रत तथा सम्यक्त्व रहित) पुरुषों के दोष से क्या धर्म भी कभी मलिन हो सकता है? किन्तु नहीं हो सकता है। सो ठीक है—मेंढ़क के मरने से समुद्र कहीं दुर्गन्धित नहीं होता। इसी तरह सब मतों में सार देखकर सम्यग्दृष्टि पुरुषों को अपनी बुद्धि सर्वज्ञ भगवान के दिखाये हुए मार्ग में लगानी चाहिए।

अब उपसंहार करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो वस्त्ररहित होकर भी सुन्दर है, अलंकारादि विहीन होकर भी देदीप्यमान है तथा जो क्षुधा, तृषादि अठारह दोषों से रहित हैं, वही तो वास्तव में देव कहलाने योग्य हैं और शेष क्षुधादि सहित कभी देव नहीं कहे जा सकते।

उन्हीं जिन भगवान के मुख-चन्द्र से विनिर्गत स्याद्वादरूप अमृत से पूरित तथा परस्पर विरुद्धतारहित जो शास्त्र हैं, वही तो शास्त्र है और दूसरे लोगों के द्वारा कहा हुआ शास्त्र नहीं हो सकता।

और जो नाना प्रकार के ग्रन्थ (शास्त्र) सहित होकर भी

निर्ग्रन्थ (परिग्रह रहित) है तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय से विराजित हैं, वे ही यथार्थ में गुरु हो सकते।

इसलिए बुद्धिमानों को दूसरी ओर से बुद्धि हटाकर सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु के श्रद्धान में उसे लगानी उचित हैं। और सप्त तत्त्वों का निश्चय करके उत्तम सम्यक्त्व स्वीकार करना चाहिए।

★ ★ ★

अन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि श्रेणिक महाराज के प्रश्न के उत्तर में जैसा श्री वीर जिनेन्द्र ने भद्रबाहु चरित्र का वर्णन किया था, उसी तरह जिन शास्त्र के द्वारा समझकर मैंने भी श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली का चरित्र लिखा है।

जिसका अवतार स्वर्ग समान मनोहर कोटपुर में हुआ है, जो सोमशर्म तथा श्रीमती सोमश्री का अनेक गुणों का धारक पुत्ररत्न है, जिसने गोवर्द्धनाचार्य सरीखे महात्मा का आश्रय लेकर निर्मलाान रूपी रत्नाकर तिर लिया है, वे श्री भद्रबाहु महर्षि मेरे हृदय में प्रकाश करें।

जो स्नेह (राग) का नाश कर देने से यद्यपि आभरणादि से विरहित हैं तो भी बहुत सुन्दर है, जो वेदनीय कर्म के अभाव हो जाने से यद्यपि निराहार है तो भी निरन्तर सन्तुष्ट हैं, जो कामरूप प्रचण्ड हाथी का नाश करने के लिये केशरी गिना जाता है और जो इन्द्रिय रूप कानन के जलाने के लिये वह्नि कहा जाता है, इसीलिए कि वे मुझे मनोभिलषित सुख वितीर्ण करें।

सम्यग्दर्शन जिसका मूल कहा जाता है, जो श्रुत सलिल से

अभिसिंचित किया गया है, उत्तम चारित्र का ग्रहण जिसकी शाखायें मानी जाती हैं, जो सुन्दर-सुन्दर गुणों से विराजित हैं, और जिसमें इच्छानुसार फल प्रदान करने की अचिन्त्य प्रभुत्वता है तो फिर आप लोग उसी धर्मरूप मन्दारतरु का क्यों न आश्रय करें।

ग्रन्थकर्ता का परिचय

जो प्रतिवादी रूप गजराज के मद का प्रमर्दन करने के लिये केशरी की उपमा से विराजित हैं, जिन्हें शील-पीयूष का जलधि कहते हैं और जिसने उज्जवल कीर्तिसुन्दरी का आलिंगन किया है, उन्हीं अनन्तकीर्ति आचार्य के विनय और अपने शिक्षा-गुरु श्री ललितकीर्ति मुनिराज का ध्यान करके मैंने इस निर्दोष चरित्र का संकलन किया है।

यदि परमार्थ से देखा जाये मुझ सरीखे मन्द बुद्धियों के लिये भद्रबाहु सरीखे महात्माओं का वृत्तान्त लिखना बहुत ही कठिन था तो भी श्री हीरकअवलि ब्रह्मचारी के अनुरोध से थोड़े में लिखा ही गया। यह मेरा सौभाग्य है।

मैंने यह चरित्र लिखा है, वह केवल इसीलिए कि—श्वेताम्बर लोग वास्तविक स्वरूप समझ जायें। आप लोग यह कभी ख्याल न करें कि मैंने पाण्डित्य के अभिमान से इसे बनाया हो।

इति श्री रत्ननन्दि अपरनाम रत्नकीर्ति आचार्य निर्मित श्री भद्रबाहु-चरित्र के अभिनव हिन्दीभाषानुवाद में श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति तथा आपलीसंघ की उत्पत्ति के वर्णनवाला चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

अनुवादक का परिचय

श्री वैश्यवंश-अवतंस! जिनेन्द्रभक्त!
शांतस्वभाव! सब दोष-कलंक-मुक्त!
हीरादिचंद शुभ नाम विराजमान!
हे पूज्यपाद! तुव पाद करौं प्रणाम॥१॥
हा तात! पापविधिका नहिं है ठिकाना,
जो आपके अब सुदर्शनका न होना।
हा! मन्दभाग्य मुझको दुःख में डुबोके,
मा* भी हुई सुपथगामिनी आपही के॥२॥
आधार तात! अब है नहिं कोई मेरा,
हा! और संसृति-निवास बचा घनेरा।
कैसे दुःखी 'उदय' जीवन पूर्ण होगा?
हा! कर्मके उदयको किसने न भोगा?॥३॥

जिनेन्द्र से प्रार्थना

हे देव! देख जगमें अवलम्ब हीन
आलम्ब देकर करो अघ-कर्म हीन।
संसार-नीरनिधिमें अब छोड़ दोगे,
तो दासका कठिन शाप विभो! लहोगे॥४॥

* मा, जननी और लक्ष्मी इन दोनों का वाचक है। हमारी माता का नाम लक्ष्मी था।

परिशिष्ट

प्रथमावृत्ति की प्रस्तावना

पाठक महाशय!

जिस ग्रंथ की प्रस्तावना लिखने का हम आरम्भ करते हैं, वह वास्तव में बहुत महत्त्व का है। ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ का संकलन कर जैन जाति का बड़ा भारी उपकार किया है, इस ग्रन्थ के निर्माता का नाम है श्री रत्ननन्दी। आपके विषय में बहुत कुछ लिखने की हमारी उत्कण्ठा थी परन्तु जैन समाज ऐतिहासिक विषयों की खोज करने में संसार में सबसे पीछा पिछड़ा हुआ है और यही कारण है कि आज कोई किसी जैनाचार्य की जीवनी लिखना चाहे तो पहले तो उसे सामग्री ही नहीं मिलेगी। यदि विशेष परिश्रम से कुछ भाग कहीं पर मिल भी गया तो वह उतना थोड़ा रहता है, जिससे पाठकों की इच्छा पूरी नहीं हो सकती।

इसका कारण यदि हम यह कहें कि 'जैनयिों में शिक्षा का प्रचार बहुत कम हो गया है और इसी से कोई किसी विषय की खोज में नहीं लगता है' तो कोई अनुचित नहीं होगा। क्योंकि ऐतिहासिक बातों का शिक्षा से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। आज संसार में बुद्ध का नाम इतना प्रसिद्ध है कि बच्चा-बच्चा उन्हें जानने लगा है। परन्तु जैन इतने महत्व का होकर भी उसे बहुत कम जानते हैं। इसका कारण क्या है? और कुछ लोग जानते भी हैं तो उनमें कितने ऐसे हैं जो जैन मत को स्वतन्त्र मत न समझकर बौद्धादि की शाखा-विशेष समझते हैं।

इसे हम जैनियों की भूल छोड़कर दूसरों की गलती नहीं कह सकते। क्योंकि—जिस प्रकार बौद्धों का इतिहास प्रसिद्ध होने से उन्हें सब जानने लग गये, यदि उसी प्रकार जैनियों का इतिहास आज यदि संसार में प्रचलित होता तो क्या यह सम्भव था कि जैनी लोग यों ही संसार के किसी कोने में पड़े-पड़े सड़ा करते? हम इस अन्ध श्रद्धा पर

विश्वास नहीं कर सकते। क्या आज जैनियों में विद्वान, महात्मा और परोपकारी पुरुषों की किसी तरह कमी है, जो उनके प्रसिद्ध होने में कोई प्रतिबन्ध हो ? नहीं; हाँ, यदि कमी है तो उस प्राचीन महर्षियों के वास्तविक ऐतिहासिक वृत्तान्त की। यदि जैन समाज इस बात पर लक्ष्य देगा और इस विषय की खोज में जो जानने लगेगा तो कोई आश्चर्य नहीं कि वह फिर भी अपने पूर्वजों का उज्ज्वल सुयशस्तम्भ संसार के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक गाढ़ दे। और एक वक्त सारे संसार में जैनधर्म का वास्तविक महत्व प्रगट कर दें। क्योंकि—

उपाये सत्युपयेस्य प्राप्तेका प्रतिबन्धता।
पातालस्थं जवं यंत्रात्करस्यं क्रियते यतः॥

प्राप्त होनेवाली वस्तु के लिये उपाय किया जाये तो उसमें कोई प्रतिरोधक नहीं हो सकता। क्योंकि यन्त्र के द्वारा तो पाताल से भी जल निकाल लिया जाता है।

हमारे ग्रन्थकार भी इतिहास गाढांधकार में पड़ा हुआ है और न हमारे पास सामग्री ही हैं जो उसे अन्धकार से निकालकर उजाले में ला सकें। अस्तु, ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में कुछ अपना परिचय दिया है। उसी पर कुछ श्रम करके देखते हैं कि हम कहाँ तक सफल मनोरथ होंगे ?

वादीभेन्द्रमदप्रमर्दनहरेः शीलामृताम्भोनिधेः
शिष्यं श्रीमदनन्तकीर्तिगणिनः सत्कीर्तिकांताजुषः।
स्मृत्वा श्रीललितादिकीर्तिमुनिषं शिक्षागुरुं सद्गुणं।
चक्रे चारु चरित्रमेतदनघं रत्नादिनन्दी मुनि॥

भाव यह है कि परवादिरूप गजराज के मद का नाश करनेवाले, शीलामृत के समुद्र और उज्ज्वल कीर्ति-कान्ता से विराजित श्री अनन्तकीर्ति महाराज के शिष्य और अपने विद्यागुरु श्री ललितकीर्ति मुनिराज का हृदय में स्मरण कर रत्ननन्दी मुनि ने यह निर्दोष चरित्र बनाया है। यही

ग्रन्थकार के इतिहास की नींव है। अथवा यों कहिये कि पहली सीढ़ी है।

पाठक स्वयं विचारें कि यह नींव कहाँ तक काम आ सकेगी ? खैर ! इस श्लोक से यह तो मालूम हो गया कि रत्ननन्दी ललितकीर्ति मुनि के शिष्य हैं। और ललितकीर्ति श्री अनन्तकीर्ति आचार्य के शिष्य हैं। इन महानुभावों का संसार में कब अवतार हुआ है, यह निश्चय करना तो जरा कठिन है। परन्तु भद्रबाहु चरित्र में श्री रत्ननन्दीजी ने एक जगह लिखा है कि—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते।
दशपंचशतेऽशब्दानामतीते शृणुतापरम्॥
लुंकामतमभूदेकं लोपकं धर्मकर्मणः।
देशेऽत्र गौर्जरे ख्याते विद्वत्तार्जितनिर्जरे॥
अणहिल्लपत्तने रम्ये प्राग्वाटकुलजोऽभवत्।
लुंकाभिधो महामानी श्वेतांशुकमताश्रयी॥
दुष्टात्मा दुष्टभावेन कुपितः पापमण्डितः।
तीव्रमिथ्यात्वपाकेन लुंकामतमकल्पयत्॥

अर्थात्—महाराज विक्रम की मृत्यु के बाद १५२७ वर्ष बीत जाने पर गुजरात देश के अणहिल नगर में कुलम्बी वंशीय एक महामानी लुंका नामक श्वेताम्बरी हुआ है। उसी महामानी ने तीव्र मिथ्यात्व के उदय से लुंकामत (ढूंढियामत) का प्रादुर्भाव किया। यह मत प्रतिमाओं को नहीं मानता है। ग्रन्थकार के इस लेख से यह सिद्ध होता है कि विक्रम सं. १५२७ के बाद वे हुए हैं। क्योंकि तभी तो उन्होंने अपने ग्रन्थ में ढूंढियो का उल्लेख किया है। परन्तु यह खुलासा नहीं होता कि उनके अवतार का निश्चित समय क्या है ? सुदर्शन चरित्र के रचयिता एक जगह रत्नकीर्ति का उल्लेख करते हैं—

मूलसंघाग्रणीर्नित्यं रत्नकर्तिगुरुर्महान्।
रत्नत्रयपवित्रात्मा पायान्मां चरणाश्रितम्॥

यद्यपि भद्रबाहु चरित्र के रचयिता ने अपना नाम रत्ननन्दी लिखा है परन्तु आश्चर्य नहीं, उन्हें उनसे पीछे के मुनियों ने रत्नकीर्ति नाम से भी लिखे हों। क्योंकि रत्ननन्दी और रत्नकीर्ति के समय में विशेष अन्तर नहीं दिखता। इससे भी यही प्रतीत होता है कि रत्ननन्दी को ही सुदर्शन-चरित्र के रचयिता विद्यानन्दी ने रत्नकीर्ति लिखा है। ये विद्यानन्दी भट्टारक हैं। इनके गुरु का नाम है देवेन्द्रकीर्ति, जैसा कि सुदर्शन चरित्र के इस लेख से जाना जाता है—

जीवाजीवादितत्वानां समुद्योतदिवाकरम्।
वन्दे देवेन्द्रकीर्ति च सूरिवर्य दयानिधिम्॥
मद्गुरुयोर्विशेषेण दीक्षालक्ष्मीप्रसादकृत्।
तमहं भक्तितो बन्दे बिद्यानंदी सुसेवकः॥

भावार्थ - जीवाऽजीवादि तत्वों के प्रकाश करने में सूर्य की उपमा धारण करनेवाले और दयासागर श्री देवेन्द्रकीर्ति आचार्य के लिये मैं अभिनंदन करता हूँ, जो विशेषतया मेरे गुरु हैं। इन्हीं के द्वारा मुझे दीक्षा मिली है।

देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक विक्रम संवत् १६६२ में सांगानेर के पट्ट पर नियोजित हुए थे। इनके बनाये हुए बहुत से कथाकोषादि ग्रन्थ हैं। इससे यह सिद्ध तो ठीक तरह हो गया कि सुदर्शन चरित्र के कर्ता विद्यानन्दी भी विक्रम सं. १६६२ के अनुमान में हुए हैं। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि रत्नकीर्ति और रत्ननंदी एक ही होने चाहिए। क्योंकि भद्रबाहु चरित्र को दोनों के बनाये हुए लिखे हैं। परन्तु रत्ननन्दि के भद्रबाहु चरित्र को छोड़कर रत्नकीर्ति का भद्रबाहु चरित्र अभी तक देखने में नहीं आता और इन दोनों के समय में विशेष फर्क है।

भद्रबाहु चरित्र के अनुसार रत्ननन्दि का ..... के ऊपर जँचता है और विद्यानन्दि से ..... अनुसार रत्नकीर्ति का समय भी १६६२ के भीतर होना चाहिए। वैसे अन्तर है १३५ वर्ष का है

परन्तु विचार करने से इतना अन्तर नहीं रहता है। भद्रबाहु चरित्र में जो रत्ननन्दि ने ढूंढियों के मत का प्रादुर्भाव वि. १५२७ में हुआ लिखा है, इससे रत्ननन्दि का ढूंढियों के बाद होना तो सहज सिद्ध है। परन्तु वह कितना बाद, यह ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। यदि अनुमान से यह कहें कि उस समय ढूंढियों को पैदा हुए सौ सवा सौ वर्ष हो जाने चाहिए, तो वि. १६२५ के आसपास उनका होना जाना जाता है, यह बात भद्रबाहु चरित्र में ढूंढियों की उत्पत्ति से जानी जाती है। दूसरे भद्रबाहु चरित्र के बनानेवाले रत्ननन्दि तथा रत्नकीर्ति के एक होने में यह भी एक प्रमाण मिलता है, कि जहाँ परिच्छेद पूरा होता है वहाँ रत्ननन्दि तथा रत्नकीर्ति इन दोनों का नाम पाया जाता है। इसलिए यही निश्चित होता है कि भद्रबाहु चरित्र के बनानेवाले दोनों महानुभाव एक ही हैं। वैसे रत्नकीर्ति और भी हुए हैं। पाठक यदि इस विषय में परिचित हो तो अनुग्रह करैं, पुनरावृत्ति में ठीक कर दिया जावेगा।

रत्ननन्दि किस कुल में तथा किस देश में हुए हैं, यह ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता। जिससे कि हम उनके विषय में कुछ और विशेष लिख सकें। और न हमारे पास विशेष साधन ही है।

रत्ननन्दि ने भद्रबाहु चरित्र में एक जगह यह लिखा है कि—

श्वेतांशुकमतोद्भूत मूढान् ज्ञापयितुं जनान्।
विरचितमिमं ग्रन्थं न स्वपाण्डित्यगर्वतः॥

इससे यह जाना जाता है कि उनके भद्रबाहु चरित्र के लिखने का असली अभिप्राय श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति तथा उनकी जिन शासन से बहिर्भूतता बताना था। हम भी कुछ प्रकरणानुसार श्वेताम्बर मत के बावत विचार करेंगे। पाठक जरा पक्षपात रहित तात्विक दृष्टि से दोनों मत की तुलना करें कि प्राचीन मत कौन है ? और कौन उपादेय तथा जीवों के सुख का साधन है।

श्वेताम्बर और दिगम्बरों में जो मतभेद है, वह तो रहे। सबसे पहले

हम अपने लेख में यह बात सिद्ध करेंगे कि दोनों में प्राचीन मत कौन है ? और किसका बाद में प्रादुर्भाव हुआ है ? इस विषय का पर्यालोचन करने से दोनों मतवाले दोनों की उत्पत्ति अपने-अपने से कहते हैं। इसलिए हम सबसे पहले दोनों की ओर से एक-एक उत्पत्ति का उपक्रम दोनों सम्प्रदाय के ग्रंथों के अनुसार लिख देते हैं—

श्वेताम्बर लोग कहते हैं कि —

दिगम्बरस्तावत्— श्रीवीरनिर्वाणन्नदोत्तरषट्शतवर्षातिक्रमे शिवभूत्य-परना: सहस्त्रमल्लतम्रसज्जात—यथा छव्वाससयाई नवुत्तराई तईयासिद्धि गयस्स वीरस्स तो बोडिआण दिट्ठी रहवीरपूरे समृष्पण्णा। (प्रवचन परीक्षा)

भावार्थ—श्री वीरनाथ के मुक्ति जाने के ६३९ वर्ष बाद रथवीरपुर में शिवभूति सहस्त्रमल्ल से दिगम्बरों की उत्पत्ति हुई है। इसका हेतु यों कहा जाता है—

''रहवीरेत्याद्यार्यात्रयाणायभर्थ''—

तात्पर्य यह है कि—रथवीरपुर में एक शिवभूति रहता था। उसकी स्त्री अपनी सासु के साथ लड़ा करती थी। उसका कहना था कि तुम्हारा पुत्र रात्रि के समय बाहर २ बजे सोने के लिये आता है सो मैं कबतक जगा करूँ। शिवभूति की माता ने इसके उत्तर में कहा कि—आज तू सो जा और मैं जागती हूँ। बाद यही हुआ भी। शिवभूति सदा के अनुसार आज भी उसी समय घर आये और किवाड़ खोलने के लिये कहा तो भीतर से उत्तर मिला कि इस समय जहाँ दरवाजा खुला हो, वहीं पर चले जाओ *शिवभूति माता की भर्त्सना से चल दिये।

---

* क्यों पाठकों! आपने भी यह बात कभी भी सुनी है कि जरा से स्त्री के कहने में आकर माता अपने हृदय के टुकड़े को अपने से जुदा कर सकती है ? जिसके विषय में यहाँ तक कहावत प्रसिद्ध कि 'पुत्र चाहे कुपुत्र भले ही हो जाये परन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती' तो यह कल्पना कहाँ तक ठीक है, बुद्धिमानों को विचारना चाहिए।

घूमते हुए उन्हें एक साधुओं का उपाश्रय खुला हुआ दीख पड़ा। शिवभूति ने भीतर जाकर साधुओं से प्रव्रज्या की अभ्यर्थना की। परन्तु साधुओं को उनकी अभ्यर्थना स्वीकृत नहीं हुई। *तब निरूपाय होकर वे स्वयं प्रवृत्ति हो गये। फिर साधुओं की भी कृपा हो गई सो उन्होंने शिवभूति को अपने शामिल कर लिया। बाद साधु लोग वहाँ से विहार कर गये।

कुछ काल के बाद फिर भी उसी नगर में उन सब साधुओं का आना हो गया। उस समय वहाँ के राजा ने शिवभूति को एक रत्नकम्बल दिया। उसे देखकर साधुओं ने शिवभूति से यह कहकर कि—साधुओं को रत्नकम्बल लेना उचित नहीं है, छीन लिया। और उसके टुकड़े-टुकड़े करके रजोहरणादिक काम में लाने लगे। साधुओं के ऐसे वर्ताव से शिवभूति को बहुत दु:ख पहुँचा।

किसी समय उस संघ के आचार्य जिनकल्प साधुओं का स्वरूप कह रहे थे, तब शिवभूति ने यह जानने की इच्छा की कि जब जिनकल्प निष्परिग्रह होता हैं तो आप लोगों ने यह आडम्बर किसलिए स्वीकार किया? वास्तविक मार्ग क्यों नहीं अंगीकार करते हैं? इसके उत्तर में गुरु महाराज ने कहा कि इस विषम कलिकाल में जिनकल्प कठिन होने से धारण नहीं किया जा सकता। जम्बूस्वामी के मोक्ष जाने बाद जिनकल्प नाम शेष रह गया है। शिवभूति ने सुनकर उत्तर में कहा कि देखिये तो मैं इसे ही धारण करके बताता हूँ। इसके बाद गुरु ने भी उसे बहुत समझाया परन्तु शिवभूति ने एक न सुनी और जिनकल्प धारण कर ही तो लिया। यही श्वेताम्बरियों के शास्त्रों में दिगम्बरियों की उत्पत्ति का हेतु है। इसकी समीक्षा तो हम आगे चलकर करेंगे। अब जरा दिगम्बरों का भी कथन सुन लीजिए—

---

* शिवभूति को उस समय दीक्षा क्यों नहीं दी गई? और जब इंकार ही था तो फिर क्यों दी गई? कुछ विशेष हेतु होना चाहिए।

वामदेव (जो वि. की दशमी शताब्दी में हुए) है उन्होंने भाव संग्रह में लिखा है कि—

भाव यह है—विक्रम राजा की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद जिनचन्द्र के द्वारा श्वेताम्बर मत का संसार से आविर्भाव हुआ। कारण यह है कि उज्जयिनी में श्री भद्रबाहु मुनिराज का संघ आया। भद्रबाहु मुनि अष्टांग निमित्त (ज्योतिष शास्त्र) के बड़े भारी विद्वान थे। निमित्त ज्ञान से जानकर उन्होंने सब मुनियों से कहा कि - देखो! यहाँ बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पड़ेगा। सब साधु लोग उनके वचनों पर दृढ़ विश्वासकर अपने-अपने गण के साथ दूसरे देश की ओर चले गये। क्योंकि श्रुतज्ञानी के वचन कभी अलीक नहीं हो सकते। वैसा हुआ भी। सो एक दिन शान्त्याचार्य विहार करते हुए वलभीपुर में चले आये और वहीं पर रहने लगे।

उज्जयिनी में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। वह यहाँ तक कि भिक्षुक लोग एक-एक का उदर फाड़कर भीतर का अन्न निकाल-निकालकर खाने लगे। उस समय साधु लोग वास्तविक मार्ग को नहीं रख सके। परन्तु किसी तरह अपना पेट तो भरना ही पड़ता था। इसलिए धीरे-धीरे शिथिल होकर वस्त्र, दण्ड, भिक्षापात्र, कम्बलादि धारण कर लिये। इसी तरह अब कितना काल बीता और सुभिक्ष हुआ, तब शान्त्याचार्य ने अपने सब संघ को बुलाकर कहा कि—अब इस बुरे मार्ग को छोड़ो और वास्तविक सुमार्ग अंगीकार करो, उस समय जिनचन्द्र शिष्य ने कहा कि—हम यह वस्त्रादि रहित मार्ग कभी नहीं स्वीकार कर सकते। और न इस सुखमार्ग का परित्याग ही कर सकते हैं। इसलिए आपका इसी में भला है कि—आप चुप साध जावें।

शान्त्याचार्य ने फिर भी समझाया कि तुम भले ही इस कुमार्ग को धारण करो परन्तु यह मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, हाँ उदर भरने का बेशक साधन है। शान्त्याचार्य के वचनों से जिनचन्द्र को बड़ा क्रोध आया और उसी अवस्था में उसने अपने गुरु के सिर को दण्डों-दण्डों से खूब

अच्छी तरह खबर ली, जिससे उसी समय शान्त्याचार्य शान्त परिणामों से मरकर व्यन्तर देव हुए। और अपने प्रधान शिष्य जिनचन्द्र को शिक्षा देने लगे। उससे वह डरा सो उनकी शान्ति के लिए उसने आठ अंगुली चौड़ी तथा लम्बी एक काठ की पट्टी बनाई और उसमें शान्त्याचार्य का संकल्प कर पूजने लगा सो वह उसी रूप में आज भी लोक में जलादि से पूजा जाता है।

अब तो वही पर्युपासन नाम कुलदेव कहलाने लगा। बाद श्वेत वस्त्र धारण कर उसकी पूजन की गई तभी से लोक में श्वेताम्बर मत प्रख्यात हुआ।*

यही दोनों मतों के शास्त्र का सिद्धान्त है। इसमें किसका कहना सत्य है। तथा कौन पुरातन है, वह जरा पर्यालोचन से आगे चलकर अवगत होगा। दिगम्बरियों की उत्पत्ति बावत श्वेताम्बर लोगों का कहना है कि ये लोग विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुए हैं। अस्तु, यदि थोड़ी देर के लिए यही श्रद्धान कर लिया जावे तो भी उसमें यह सन्देह कैसे निराकृत हो सकेगा?

श्वेताम्बर भाईयों के पास अपने ग्रन्थों के लिखे हुए प्रमाण को छोड़कर और ऐसा कौन सुदृढ़ प्रमाण है जिससे सर्व-साधारण में यह

---

* हमारे पाठकों का यह सन्देह होगा कि—भद्रबाहु चरित्र में तो स्थूलाचार्य मारे गये लिखे हैं और भावसंग्रह में शान्त्याचार्य सो यह फर्क क्यों?
मालूम होता है कि—शान्त्याचार्य ही का अपर नाम स्थूलाचार्य है। क्योंकि यह बात तो दोनों ग्रन्थकार ने मानी है कि श्वेताम्बर मत का संचालक जिनचन्द्र हुआ है और उन्होंने दोनों का उसे शिष्य भी बताया है। दूसरे दर्शनसार में भी शान्त्याचार्य के शिष्य जिनचन्द्र के द्वारा ही श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बतलाई गई है और यह ग्रन्थ प्राचीन भी अधिक है। इसलिए हमारी समझ में तो स्थूलाचार्य का ही दूसरा नाम शान्त्याचार्य था, ऐसा ही जँचता है और न ऐसा होना असम्भव ही है।

विश्वास हो जाय कि यथार्थ में दिगम्बर मत का समाविर्भाव विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुआ है ? क्योंकि प्रतिवादी का संशय दूर करने के लिए ऐसे प्रमाण की बड़ी भारी जरूरत है। हमने दिगम्बर मत के खण्डन में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आधुनिक विद्वानों की बनाई हुई कितनी पुस्तकें देखीं परन्तु आजतक किसी विद्वान ने प्रबल प्रमाण के द्वारा यह नहीं खुलासा किया—जैसा श्वेताम्बर शास्त्रों में दिगम्बरों का उल्लेख किया गया है। इसलिए या तो इस विषय को सिद्ध करना चाहिए अन्यथा हरिभद्रसूरि के इन वचनों का पालन करना चाहिए कि—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रह॥

केवल कथनमात्र से निष्पक्षपाती होने की डींग मारने को कोई बुद्धिमान भला नहीं कहता। जैसा कहना वैसा परिपालन भी करना चाहिए। उपदेश केवल दूसरों के लिए ही नहीं होता, किन्तु स्वतः भी उस पर लक्ष्य देना चाहिए।

हम यह बात तो आगे चलकर बतावेंगे कि पुराना मत कौन है ? और कौन यथार्थ है ? इस समय श्वेताम्बरियों ने जो दिगम्बरियों की बाबत कथा लिखी है, उसी की ठीक-ठीक समीक्षा करते हैं—

श्वेताम्बरियों ने यह बात अपने आप स्वीकार की है कि शिवभूति ने जिस मत का आदर किया था, वह जिनकल्प है। और उसे खास इसी कारण से ग्रहण किया था कि और साधु लोग जो जिनकल्प छोड़े हुए बैठे थे, वह उचित नहीं था। सो उसका प्रचार हो। इससे दिगम्बरियों को तो बड़ा भारी लाभ हुआ तो अनायास उनका मत प्राचीन सिद्ध हो गया। अरे! जिनकल्प पहले था, तभी तो शिवभूति गुरु के मुख से उसका कथन सुनकर उसके धारण करने में निश्चल प्रतिबद्ध हुए।

इसमें उसने नवीन मत क्या चलाया ? जो पुराना था जिसे तुम उच्छेद

हुआ बताते हो, वह नवीन तो नहीं है। नवीन उस हालत में कहा जाता, जबकि जिनकल्प को जैन शास्त्रों में आदर न मिलता। सो तुम भी निर्वाद स्वीकार कर चुके हो। उसमें उस समय तुम्हारा विरोध भी तो यही था न? जो कलियुग में इसका व्युच्छेद हो गया है, इसलिए धारण नहीं किया जा सकता। और यही कहकर शिवभूति को समझाया भी था। यदि तुमने उसे कलियुग के दोष मात्र से हेय समझकर उपेक्षा की तो हम तो यही कहेंगे कि तुम्हारी शक्ति इतनी न थी जो उसे धारण कर सको? अस्तु, परन्तु केवल तुम्हारे धारण न करने से मार्ग तो बुरा नहीं कहा जा सकता। भला ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो एक मिथ्यादृष्टि की निन्दा से पवित्र जैनधर्म को बुरा समझने लगेगा।

कदाचित् कहो कि—शिवभूति ने जो मत धारण किया है, वह जिनकल्प भी नहीं है किन्तु जिनकल्प का केवल नाम मात्र है। वास्तव में उसे कोई और ही मत कहना चाहिए।

यह कहना भी ठीक नहीं है और न उस ग्रन्थ ही से यह अभिप्राय निकलता है। वहाँ तो खुलासा लिखा हुआ है कि—जिनकल्प का व्युच्छेद हो जाने से कलियुग में वह धारण नहीं किया जा सकता। इस विषय को देखते हुए दिगम्बरियों का श्वेताम्बरियों के बावत जो उल्लेख है, वह बहुत ही निराबाध तथा सत्य जँचता है। बड़ी भारी बात तो यह है कि—जैसा दिगम्बरी लोग श्वेताम्बरियों की बाबत लिखते हैं उसी तरह वे भी स्वीकार करते हैं। जरा देखिए तो—

संयमो जिनकल्पस्य दुःसाध्योऽयं ततोऽधुना।
व्रतं स्थविरकल्पस्य तस्मादस्माभिराश्रितम॥

तथा – **दुर्द्धरो मूलमार्गो यंन धर्त्तुं शक्यते ततः।**

कहीये जैसा दिगम्बरी लोग उनकी उत्पत्ति के बाबत वास्तविक मार्ग का छोड़ना बताते हैं श्वेताम्बरी लोग भी तो वही बात कहते हैं

कि—जिनकल्प वास्तव में सत्य है। परन्तु काल की करालता से उसका व्युच्छेद हो गया है। इसलिए वह अब बहुत ही कठिन है। सो उसे हम लोग धारण नहीं कर सकते। यही पाठ शिवभूति से भी कहा गया था न? तो अब पाठक ही विचारैं कि कौन मत तो पुरातन है और किसका कहना वास्तव में सत्पथ का अनुसरण करता है।

यह बात तो हमने श्वेताम्बरी लोगों के ग्रन्थों से ही बताई है और उन्हीं से दिगम्बर मत पुरातन सिद्ध होता है। जब स्वयं अपने शास्त्रों में ही ऐसी कथा है जो स्वयं अपने को बाधित ठहराती है—फिर भी आग्रह से दूसरों को बुरा कहना भूल है। जरा हमारे श्वेताम्बरी भाई यह बात सिद्ध तो करें कि दिगम्बर मत आधुनिक है? वे और तो चाहे कुछ कहैं परन्तु अपने ग्रन्थ का किस रीति से समाधान करते हैं, यही बात हमें देखना है।

दिगम्बर लोग श्वेताम्बरियों की बाबत कहते हैं कि यह मत विक्रम संवत् १३६ में निकला। उसी तरह श्वेताम्बर दिगम्बरियों के बाबत लिखते हैं कि—वि.संवत् १३८ में दिगम्बर मत श्वेताम्बर से निकला। दोनों मतों की कथा भी हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं। सार किसके कहने में है यह बात बुद्धिमान पाठक कथा पर ही से यद्यपि अच्छी तरह जान सकते हैं, और इस हालत में यदि हम और प्रमाणों को दिगम्बरियों की प्राचीनता सिद्ध करने में न दें तो भी हमारा काम अटका नहीं रहेगा। क्योंकि जो बात खण्डन लिखनेवालों की लेखनी ही से ऐसी निकल जावे, जिससे खण्डन तो दूर रहे और दूसरों का मण्डन हो जाये तो उसे छोड़कर ऐसा कौन प्रबल प्रमाण हो सकता है, जिससे कुछ उपयोग निकले?

श्वेताम्बरी भाई यह न समझें कि इस लेख से हम और प्रमाण देने के लिये निर्बल हैं।

हम अपनी ओर से तो जहाँ तक हो सकेगा दिगम्बर धर्म के प्राचीन

बताने में प्रयत्न करेंगे ही। परन्तु पहले पाठकों को यह तो समझा दें कि दिगम्बर धर्म श्वेताम्बर से प्राचीन है। वह भी श्वेताम्बर के ग्रन्थों से!

अस्तु, अब हम उन प्रमाणों को भी उपस्थित करते हैं जिनसे जैनियों का कोई सम्बन्ध नहीं है। और उन्हीं से यह भी सिद्ध करेंगे कि दिगम्बर धर्म पहले का है।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में यह लिखा हुआ मिलता है कि दिगम्बर धर्म विक्रम की दूसरी शताब्दी में रथवीरपुर से शिवभूति के द्वारा निकला है। अस्तु, श्वेताम्बर भाईयों की इस भूल पर चाहे जैसा अन्ध श्रद्धान हो! परन्तु इतिहास के जाननेवाले वह बात कभी स्वीकार नहीं करेंगे। प्राचीन इतिहास के देखने पर यह श्रद्धा नहीं होती कि इन कथन का पाया कितना गहरा और सुदृढ़ होगा।

हम अपने प्राचीनत्व के सिद्ध करने के पहले यह बतला देना बहुत समुचित समझते हैं कि दिगम्बर साधु लोग धन-वस्त्र आदि कुछ भी परिग्रह अपने पास नहीं रखते हैं। अर्थात् थोड़े अक्षरों में यों कहिये कि वे दिशारूप वस्त्र के धारण करनेवाले हैं, इसलिए उन्हें दिगम्बर (नग्न) साधु कहते हैं। जैसा कि—श्रीभगत्समन्तभद्र ने साधुओं का लक्षण अपने रत्नकरण्ड उपासकाचार में लिखा है—

बिपयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहाः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तरतपस्वी स प्रशस्यते॥

यह दिगम्बरियों के साधुओं का लक्षण है। और श्वेताम्बरियों के साधु लोग वस्त्र वगैरह रखते हैं। इसलिए वे श्वेताम्बर कहे जाते हैं। अथवा हम यह व्याख्या न भी करें तो भी उनके नाम मात्र से यह ज्ञात हो जाता है कि वे श्वेतवस्त्र धारण करनेवाले हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि निर्ग्रन्थ साधुओं के उपासक दिगम्बर लोग हैं और श्वेत वस्त्र धारक साधुओं के उपासक श्वेताम्बरी लोग।

अब विचार यह करना है कि दिगम्बर मत जब प्राचीन बताया जाता है तो ऐसे कौन प्रमाण हैं जिनसे सर्व साधारण यह समझ जाये कि दिगम्बर मत वास्तव में पुरातन है ?

हम यह बात ऊपर ही सिद्ध कर चुके हैं कि—दिगम्बर लोग नग्न साधु तथा नग्न देव के उपासक हैं। तो अब देखिये कि—बराहमिहिर जो ज्योतिषशास्त्र के अद्वितीय विद्वान हुए हैं * उनके समय का निश्चय करते हैं, तो उस विषय में यह प्रसिद्ध श्लोक मिलता है।

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-
बेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां,
रत्नानि वैवररुचिर्नव बिक्रमस्य॥

कहने का आशय यह है कि श्री विक्रम महाराज की सभा में धन्वन्तरि, अमरसिंह, कालिदास प्रभृति जो नवरत्न गिने जाते थे, उनमें बराहमिहिर भी एक रत्न थे। इन्होंने अपने प्रतिष्ठाकाण्ड में एक जगह लिखा है कि—

विष्णोर्भागवता मयाश्चा सचितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणां।
मातृणामिति मातृमण्डलविदः शंभो समस्या द्विजः॥
शाक्याः सर्वहिताय शांतमनसो नग्ना जिनानां विदु-
र्येयं देवमुपाश्रिताः स्वविविना ते तस्य कुर्युःक्रियाम्॥

भाव यह है कि वैष्णव लोग विष्णु की प्रतिष्ठा करें, सूर्योपजीवी लोग सूर्य की उपासना करें, विप्र लोग ब्राह्मण की क्रिया करें, ब्राह्मणी

* हमने तो यहाँ तक किंवदन्ती सुनी है कि वराहमिहिर और श्री भद्रबाहु ये दोनों सहोदर थे। यह उक्ति कहाँ तक ठीक है ? सहसा विश्वास नहीं होता क्योंकि इस विषय में हमारे पास कोई ऐसा सबल प्रमाणित नहीं है—जिससे इस किंवदन्ती को प्रमाणित कर सकें। यदि हमारे पाठक इस विषय में कुछ जानते हों तो सूचित करें, हम उनके बहुत आभारी होंगे।

इन्द्राणी प्रभृति सप्त मातृमण्डल की उनके जाननेवाले अर्चा करें, बौद्ध लोग बुद्ध की प्रतिष्ठा करें, नग्न (दिगम्बर साधु) लोग जिन भगवान की पर्यूपासना करें, थोड़े शब्दों में यों कहिये कि जो जिनदेव के उपासक हैं, वे अपनी-अपनी विधि से उसी की क्रिया करें।

अब इतिहास के जाननेवाले लोग इस बात का अनुभव करें कि यह वराहमिहिर का कथन दिगम्बर मत का अस्तित्व महाराज विक्रम के समय तक का सिद्ध करता है या नहीं? यदि करता है तो जो श्वेताम्बरी लोग दिगम्बरी लोगों की उत्पत्ति विक्रम की मृत्यु के १३८ वर्ष बाद बतलाते हैं, यह कहना सत्य है क्या? हमें खेद होता है कि श्वेताम्बराचार्यों ने इस विषय पर क्यों न लक्ष्य दिया? वे अपने ही हरिभद्रसूरी के—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य, कार्यः परिग्रहः॥

इन वचनों को क्यों भूल गये? अथवा यों कहिये कि—'अर्थी दोषं न पश्यति।' जिन्हें अपने ही मतलब से काम होता है, वे दूसरे की ओर क्यों देखनेवाले हैं? क्या वे लोग यह न जानते थे कि यह बात छिपी न रहेगी? हम कितनी भी क्यों न छिपावें परन्तु कभी न कभी तो उजले में आवेंगी ही।

यह तो हम ऊपर ही लिख आये हैं कि—वराहमिहिर विक्रम के समय में विद्यमान थे। तो अब यह निश्चय हो गया कि दिगम्बरियों के बावत जो श्वेताम्बरियों की कल्पना है, वह सर्वथा मिथ्या है, वह उसका एक अंश भी ऐसा नहीं है जो श्रद्धेय हो। बल्कि दिगम्बरियों की बावत वि.सं. १३९ में उनकी उत्पत्ति लिखी है, वह बिल्कुल ठीक है। इसके साक्षी वराहमिहिराचार्य हैं। (जिनका जैनियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है) उनके समय में श्वेताम्बरियों की गन्ध तक नहीं थी, इससे उन्होंने 'नग्न' पद दिया है।

इस विषय में कितने ही श्वेताम्बर लोगों का कहना है कि जो लोग जैन मत से अपरिचित तथा ग्रामीण होते हैं, वे जैन मन्दिर के देखते ही झट से कह उठते हैं कि—यह नग्नदेव का मन्दिर है। उसी प्रसिद्धि के अनुसार यदि वराहमिहिर ने भी ऐसा लिख दिया हो तो क्या आश्चर्य है? परन्तु कहनेवालों की यह भूल है। वराहमिहिर विक्रम की सभा के रत्न गिने जाते थे। वे सब शास्त्रों के जाननेवाले थे। इसलिए ऐसे अपरिचित तथा ग्रामीण न थे जो बेसिर पैर की कल्पना उठा लेते। और यह तो कहो कि उस समय तुम्हारा मत जब विद्यमान था तो भी उन्होंने तुम्हारे विषय में न लिखकर दिगम्बरियों के विषय में क्यों लिखा? तुम्हारे कथनानुसार तो दिगम्बर धर्म का उस समय सद्भाव भी न होना चाहिए? फिर यह गोलमाल क्यों हुआ? इसका उत्तर क्या दे सकते हो? तुम वराहमिहिर के इन वचनों को होते हुए यह कभी सिद्ध नहीं कर सकते कि दिगम्बर मत विक्रम की दूसरी शताब्दी में निकला है। किन्तु इतिहास वेत्ताओं की दृष्टि में उल्टे तुम ही निरुत्तर कहे जा सकोगे।

कदाचित् कहो कि—केवल नग्न शब्द के कहने मात्र से तो दिगम्बर लोगों को अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि हम भी तो जिनकल्प के उपासक हैं। और जिनकल्पवालों की प्रवृत्ति नग्नरूप होती है।

केवल कथन मात्र से कहना कि—हम जिनकल्प के उपासक हैं और जिनकल्प नग्न होता है, इसके कुछ उपयोग नहीं निकल सकता। साथ में स्वरूप भी वैसा होना चाहिए। और यदि यही था तो शिवभूति क्यों बुरा समझा गया? अरे! जब तुम्हारा मत ही श्वेताम्बर नाम से प्रसिद्ध है तो उसे नग्न कहना केवल उपहास कराना है। हम तो फिर भी कहेंगे कि साधु लोग वास्तविक नग्न यदि संसार में किसी मत के होते हैं तो वे केवल दिगम्बरियों के। वस्त्रादि से सर्वांग वेष्टित साधुओं को कोई नग्न नहीं कहेगा। यदि तुम अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये कहो भी तो यह बड़ा भारी आश्चर्य है!

दूसरे तुम्हारे ग्रन्थों में जब यह बात भी पाई जाती है कि 'तीर्थंकरदेव भी सर्वथा अचेल नहीं होते किन्तु देव दूष्य वस्त्र स्वीकार करते हैं'[१] तो तुम्हारे साधु नग्न हों, यह कैसे माना जाये ? यह बात साधारण से साधारण मनुष्य से भी यदि पूछा जाये कि दिगम्बर और श्वेताम्बरियों के साधुओं में नग्न साधु कौन हैं ? सो वह भी दोनों का स्वरूप देखकर झट से कह देगा कि दिगम्बरियों के साधु नग्न होते हैं।

इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वराहमिहिर का वचन विक्रम महाराज के समय में दिगम्बर धर्म का अस्तित्व सिद्ध करता है, वह सन्देह है और श्वेताम्बरी लोग जो विक्रम की दूसरी शताब्दी में चला बताते हैं वह बिल्कुल काल्पनिक है।

महाभारत के तीसरे परिच्छेद के आदि में दिगम्बरियों की बावत कुछ जिक्र आया है। महाभारत वराहमिहिर से बहुत प्राचीन है। इसके बनानेवाले श्री वेद व्यास महर्षि हैं जिनके नाम को बच्चा-बच्चा जानता है। इनके विषय में यदि विशेष शोध करना चाहे तो किसी सनातन धर्म के विद्वान से जाकर पूछो, वह सब बातें बता सकेगा।

[२]साधयामस्तावदित्यूक्त्वा प्रतिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुण्डले गृहीत्वा सोपस्यदथ पथि नग्ने क्षपणकमागच्छतं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च॥

आशय यह है कि कोई उत्तंग नामा विद्यार्थी अपने गुरु की भार्या के लिये कुण्डल लाने के लिये गया। मार्ग में पोष्य के साथ उसका वार्तालाप हुआ तो किसी हेतु से उत्तंग ने उसे चक्षु विहीन होने का शाप दे दिया। पोष्य भी चुप न रह सका सो उसने बदले का शाप दे डाला कि—तू भी

---

१. इस विषय को श्री आत्मारामजी साधु ने अपने निर्माण किये तत्वनिर्णयप्रसाद के ५४४ वें पन्ने में स्वीकार किया है।

२. मुनि आत्मारामजी ने भी इस प्रमाण को तत्वनिर्णयप्रसाद में जैन मत की प्राचीनता दिखलाने के लिये उद्धृत किया है।

संतान का सुख न देखेगा। अवसान में वह कहता हुआ कि अच्छा शाप का अभाव हो कुण्डल लेकर चल दिया। सो रास्ते में उसने कुछ दीखते हुए कुछ न दीखते हुए नग्न (दिगम्बर) मुनि को बारबार देखे।

कहो तो नग्न साधु दिगम्बरियों के ही थे न? ये वेद व्यास तो आजकल के साधु नहीं हैं? किन्तु इन्हें हुए तो आज कई हजार वर्ष बीत चुके हैं? इस विषय में तुम यह भी नहीं कह सकते कि क्या आश्चर्य है जो ये जिनकल्पी ही साधु हों? क्योंकि उस समय जिनकल्प विद्यमान था। ब्राह्मणों के ग्रन्थों में जहाँ कहीं नग्न शब्द से सम्बन्ध रखनेवाला विषय आता है, वह केवल दिगम्बर धर्म से सम्बन्ध रखता है। खैर! वेद व्यास तो प्राचीन हुए हैं, उनके समय में तो तुम्हारा नाम निशान भी न था, किन्तु जो आचार्य विक्रम की सातवीं तथा नवमी शताब्दी में हुए हैं, वे भी नग्न शब्द का प्रयोग दिगम्बरियों के लिए ही करते हैं—

कुसुमांजलि के प्रणेता उदयानाचार्य १६वें पृष्ठ में लिखते हैं कि—

निरावरण इति दिगम्बराः।

इस तरह न्यायमञ्जरी के जयन्त भट्ट १६७वें पृष्ठ में लिखते हैं—

क्रियातु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्मजटा परिग्रहो वा दण्डकण्डलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं वा दिगम्बरता वाऽलंब्यतां कोऽत्र विरोधः।

इनके अलावा और भी जितनी जगह प्रमाण आते हैं 'विवसन' 'दिगम्बर' 'नग्न' इत्यादि शब्दों व्यवहृत किये जाते हैं। वे सब दिगम्बर मत सम्बन्ध रखते हैं तो फिर क्यों कर यह माना जाये कि दिगम्बर धर्म आधुनिक है? उसके आधुनिक कहनेवालों ऐसे प्रमाण भी देने चाहिए जिन्हें सर्वसाधारण मान सके, केवल भला ही किसी पर आक्षेप करना सर्वथा अनुचित है। आज का जमाना नवीन ढंग के प्रवाह में बह रहा है।

अब लोग यह नहीं चाहते हैं कि बिना किसी प्रबल युक्ति के कोई

बात मान ली जावे। किन्तु जहाँ तक हो सके उसे युक्ति प्रवृत्तियों के द्वारा अच्छी तरह परामर्श करके मानना चाहिए। जब प्रत्येक विषय के लिये यह बात है तो यह तो एक बड़ा भारी विषम विषय है। इसमें तो बहुत ही सुदृढ़ प्रमाण होने चाहिए। हम यह नहीं कहते कि आप लोग हमारे कहे हुए को अपने हृदय में स्थान दें। परन्तु साथ ही इतना अवश्य अनुरोध करेंगे कि—

यदि हमारा लिखा हुआ अयुक्त हो तो उसे सर्वसाधारण में अयुक्त सिद्ध करें, हमें इस बात से बड़ी खुशी होगी कि—जिस तरह हमने अपने प्राचीनत्व सिद्ध करने में एक तीसरे ही मत के प्रमाणों को उपस्थित किया है, उसी तरह तुम भी अपने कहे हुए प्रमाण को सप्रमाण प्रमाणभूत ठहरा दोगे।

हम प्रतिज्ञापूर्वक यह बात लिखते हैं और न ऐसे लिखने से हमें किसी तरह की विभीषिका है। यदि हमें कोई यह बात सिद्ध करके बता देंगे कि—दिगम्बर धर्म आधुनिक है, इसका समाविर्भाव विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुआ है तो हमें दिगम्बर धर्म से ही कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु प्रयोजन है, अपने हित से, सो हम फौरन अपने श्रद्धान को दूसरे रूप में परिणत कर सकते हैं। परन्तु साथ ही हमारे ऊपर कहे हुए वचनों का भी पूर्ण ख्याल रहे केवल अपने ग्रन्थमात्र के लिखने से हम कभी उसे सप्रमाण नहीं समझेंगे। यदि लिखने मात्र पर ही विश्वास कर लिया जाये तो संसार के और-और मतों ने ही क्या बिगाड़ा है?

इस पर प्रश्न यह हो सकता है कि जैसे तुम्हें अपने धर्म पर लिखे हुए का विश्वास है, वह भी तो लिखा हुआ ही है न? बेशक वह लिखा हुआ है और उस पर हमारा पूर्ण विश्वास भी है। क्योंकि वह हमारी परीक्षा में शुद्ध रत्न जँचा है और यही कारण है कि दूसरे पर अश्रद्धा है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हमें कोई यह बात समझा दे कि दिगम्बर धर्म आधुनिक और जीवों का अहित करनेवाला है, फिर भी

उस पर श्रद्धा न रहे। अन्यथा हम तो यही अनुरोध करते हैं और करते रहेंगे कि सबसे पहले यह विचारना जरूरी है कि जीव का वास्तविक हित किस धर्म के द्वारा हो सकता है ? और कौन धर्म ऐसा है जो संसार में निराबाध है ? इस विषय की गवेषणा में लोगों को निष्पक्षपाती होना चाहिए और नीचे की नीति चरितार्थ करना चाहिए—

वारि हंस इव क्षीरं, सारं गृह्याति सज्जनः।
यथाश्रुतं यथारुच्यं, शोच्यानां हि कृतिर्मता॥

वैदिक सम्प्रदाय के महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार यह अच्छी तरह सिद्ध कर चुके हैं कि—दिगम्बर धर्म श्वेताम्बर धर्म से प्राचीन है और दिगम्बरों ही में से इसकी संसार में नवीन रूप से अवतरणा हुई है। वह केवल अपनी सामर्थ्य के हीन होने से। क्योंकि यदि उनकी शक्ति का ह्रास न होता तो न धर्मशास्त्र विहित जिनकल्प का अनादर करते और न उन्हें अपने नवीन मत के चलाने की जरूरत पड़ती।

कदाचित् कहो कि यदि, जिनकल्प के तुम बड़े श्रद्धानी हो और उसे ही प्रधान समझते हो तो आज तुम लोगों में यह हालत है कि एक-एक साधु तक ऐसा नहीं देखा जाता जो जिनकल्प का नमूना हो ? और हम लोगों में साधु तो देखने में आते हैं। क्या जिन भगवान का यह कहना है कि पंचम काल के अन्तपर्यन्त साधुओं का सद्भाव रहेगा, व्यर्थ ही चला जायेगा ?

इसके उत्तर में विशेष नहीं लिखना चाहते। किन्तु इतना ही कहना उचित समझते हैं कि जो बात जिन भगवान की ध्वनि से निकली है, वह वास्तव में सत्य है और वैसा ही वर्तमान में दिखाई भी दे रहा है। जिन भगवान ने जो यह कहा है कि पंचम काल के अन्त पर्यन्त साधुओं का सद्भाव रहेगा परन्तु इसके साथ-साथ यह भी तो कह दिया है कि बहुत ही विरलता से।

तो यदि केवल इस देश में वर्तमान समय में उनके न भी होने से यह विश्वास तो नहीं किया जा सकता कि मुनियों का सर्वथा अभाव हो? दूसरे—तुम लोगों में शासन विरुद्ध वेश के धारक यदि बहुत भी साधु मिल जावें तो उससे हमें लाभ क्या? अरे! आज इस देश में हंस सर्वथा नहीं देखे जाते तो क्या विश्वास भी यही कर लिया जाये कि हंस होता ही नहीं है? विचारशील इसे कभी स्वीकार नहीं करेंगे। दूसरे—

ध्यातो गरुडबोधेन, न हि हन्ति विषं बकः।

बगले का गरुड रूप में कोई कितना भी ध्यान क्यों न करे परन्तु वह कभी विष को दूर नहीं कर सकता। तो उसी तरह केवल ऐसे वैसे साधुओं का सद्भाव होने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि साधुओं के अभाव की पूर्ति हो जाएगी, वैसे तो आज केवल भारतवर्ष में ही बावन लाख साधु हैं। परन्तु उनसे उपयोग क्या सधेगा?

हाँ, एक बात और श्वेताम्बर लोग कहते हैं जिससे वे अपना प्राचीन होने का दावा रखते हैं। वह यह है कि—हम लोगों में अभी तक खास गणधरों के बनाये हुए अंगशास्त्र है और तुम लोगों में नहीं है। इसी से भी हम प्राचीन सिद्ध होते हैं। परन्तु यह प्रमाण भी संगत नहीं है। इसमें हमें बाधा यह देना है कि—यदि तुम खास गणधरों के शास्त्र अभी तक अपने में विद्यमान बताते हो तो कोई हर्ज नहीं। हम तो यही चाहते हैं कि—किसी तरह वस्तु का निश्चय हो जाये। परन्तु साथ ही इतनी बातें और सिद्ध करनी होगी?

यदि वे शास्त्र खास गणधरों के बनाये हुए हैं तो जिस-जिस अंग की तुम्हारे ही शास्त्रों ने जितनी-जितनी संख्या कही है उतनी ही विधि ठीक-ठीक मिला दो। यदि कहोगे कि—कलियुग में बहुत सा भाग विच्छेद हो गया है। अस्तु, यही सही, परन्तु उन शास्त्रों के प्रकरण देखने से तो यह नहीं जाना जाता कि यहाँ का भाग खण्डित हो गया है, वह तो

आदि से लेकर अन्तपर्यन्त बिल्कुल ससम्बद्ध मालूम पड़ता है, फिर यह कैसे माना जाये कि इसका भाग नष्ट हो चुका है ? और इतनी पदों की संख्या ही मिलती है जितनी शास्त्रों में लिखी है।

फिर भी कदाचित् कहो कि पद तो हम व्याकरण के नियमानुसार सुबन्त और तिडन्त को मानेंगे। खैर! यही सही, परन्तु ऐसा मानने पर तो वह संख्या शास्त्र के कथन को भी बाधित कर देगी। फिर उसका निर्वाह कैसे होगा ? फिर भी यदि कहो कि—ये जो अंग शास्त्र हैं, वे गणधरों के कथनानुसार महर्षियों के द्वारा बनाये गये हैं। यदि यही ठीक है तो महर्षियों ने उसके रचयिताओं में अपना नाम न रखकर गणधरों का नाम क्यों रखा ? क्या उन्हें किसी तरह की विभीषिका थी ? जो उन्होंने बड़ों के नाम से अपने बनाये हुए ग्रन्थ प्रकाशित किये ? जाति पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा ? उन्होंने अपने दूसरे महाव्रत का उल्लंघन करना क्यों उत्तम समझा ? दूसरे—गणधरों की जैसी गम्भीर वाणी होती है, वैसी इनकी क्यों नहीं ?

जैसे ऋषियों के ग्रन्थों की भाषा है, वैसी इनकी भी है। इत्यादि कई हेतुओं से ये अंगादि शास्त्र खास गणधरों के द्वारा विहित प्रतीत नहीं होते। यदि सिद्ध कर सकते हो तो करो! उपादेय होगा तो सभी स्वीकार करेंगे।

दिगम्बरों का तो इस विषय में सिद्धान्त है कि—अंग पूर्वादि शास्त्रों का लिखा जाना ही जब नितान्त असम्भव है तो उनका होना तो कहाँ तक सम्भव है, इसका जरा अनुभव करना कठिन है। परन्तु अभी जितने शास्त्र हैं, वे सब परम्परा के अनुसार अंगशास्त्र के अंश लेकर बने हैं। उनके बनानेवाले गणधर न होकर आचार्य लोग हैं और यही कारण है कि उन्होंने सब ग्रन्थ अपने ही नाम से प्रसिद्ध किये हैं।

यह युक्ति भी श्वेताम्बर मत के प्राचीन सिद्ध करने में असमर्थ है तो

अभी ऐसा कोई प्रबल प्रमाण नहीं है जिससे श्वेताम्बर मत दिगम्बर मत से पहले का सिद्ध हो जाये। और दिगम्बर मत पहले का है, यह बात वैदिक सम्प्रदाय के ग्रन्थों के अनुसार हम पहले ही सिद्ध कर आये हैं। इसके अलावा दिगम्बरों के प्राचीन सिद्ध होने में यह भी हेतु देखा जाता है कि—

उनके कितने आचार्य ऐसे हुए हैं जो उनका अस्तित्व विक्रम महाराज की पहली ही शताब्दी में सिद्ध होता है। देखिये तो—

कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम सं. ४९ में हुए हैं। उन्होंने पंचास्तिकायादि कितने ही ग्रन्थ निर्माण किये हैं। समन्तभद्रस्वामी वि.सं. १२५ में हुए हैं, इनके बनाये हुए गंधहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आप्त-परीक्षादि कितने ग्रन्थ बनाये हुए हैं। बनारस का शिवकोटि राजा भी इन्हीं के उपदेश से जैनी हुआ था। उसने भी भगवती आराधना प्रभृति कई ग्रन्थ निर्माण किये हैं।

इनके सिवाय और भी कितने महर्षि दिगम्बर सम्प्रदाय में विक्रम की पहली शताब्दी में हुए हैं। इसलिए श्वेताम्बरों का दिगम्बर मत की उत्पत्ति वि.सं. १३८ में कहना सर्वथा बाधित सिद्ध होता है।

जब किसी तरह दिगम्बर मत श्वेताम्बर मत के पीछे निकला सिद्ध नहीं होता तो उनकी कथा-कल्पना कहाँ तक ठीक है? इसकी परीक्षा का भार हम अपने पाठकों के ऊपर छोड़ते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे निष्पक्ष दृष्टि से दोनों मत के ऊपर विचार करें।

यद्यपि हमारी यह इच्छा थी कि—ऊपर लिखे हुए आचार्यों के बावत यह सविस्तार सिद्ध करें कि ये सब विक्रम की पहली शताब्दी में हुए। परन्तु प्रस्तावना इच्छा से अत्यधिक बढ़ गई है। इसलिए पाठकों की अरुचि न हो, सो यहीं पर विराम लेकर आगे के लिये आशा दिलाते हैं कि हम श्वेताम्बर तथा दिगम्बरों के सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ

लिखनेवाले हैं, उसी में यह बात भी अच्छी तरह सिद्ध करेंगे। पाठक थोड़े समय के लिये में अपनी क्षमा का भाजन बनावें।

हमने यह प्रस्तावना ठीक-ठीक निर्णय के अभिप्राय से लिखी है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि हम किसी के दिल को दु:खावैं। परन्तु सत्य झूठ के निर्णय की परीक्षा करने का अवश्य अनुरोध करेंगे और इसी आशय से हमने लेखनी उठाई है। यदि कोई महाशय इसका संगत उत्तर देंगे तो उस पर अवश्य विचार किया जायेगा। बस इतना कहकर हम अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हैं और साथ ही

गच्छत: स्खलनं क्वपि, भवत्येव प्रमादत:।
हसन्ति दुजनास्तत्र, समादधति सज्जना: ॥

इस नीति के अनुसार क्षमा की प्रार्थना करते हैं। क्योंकि—न सर्व: सर्वं जानाति।

इसलिए भूल होना छद्मस्थों के लिए साधारण बात है। बुद्धिमानों को उस पर ख्याल न करने प्रयोजन पर दृष्टि देनी चाहिए।

भद्रबाहु चरित्र की हमें दो प्रतियाँ मिली हैं परन्तु वे दोनों बहुधा अशुद्ध हैं, इसलिए संस्कृत पाठ के संशोधन में हम कहाँ तक सफल मनोरथ हुए हैं, इसे पाठक ही विचारें। तब भी बहुत ही अशुद्धियों के रह जाने की सम्भावना है। उन्हें पुनरावृत्ति में सुधारने का उपाय करेंगे। हिन्दी अनुवाद का यह हमारा दूसरा ग्रन्थ है। अनुवाद जहाँ तक हो सका सरल भाषा में करने का उपाय किया है, पाठकों को यह कहाँ तक रुचिकर होगा, इसका हमें सन्देह है। क्योंकि हमारी भाषा वैसी नहीं है जो पाठकों के दिल को लुभा ले। अस्तु, तो भी मूल ग्रन्थ का तात्पर्य तो समझ में आ ही जावेगा। अभी इतने ही में सन्तोष करते हैं।

काशी — जाति का दास—
दिनांक 17-2-11 — उदयलाल जैन कासलीवाल